लेखक :

हीरा मुनि

सन्
१९६२

मूल्य
१ रु. २५ नये पैसे

प्रकाशक

अमर जैन ज्ञान भण्डार

हस्तीमलजी चांदमलजी छू कड़

सुमेर मार्केट

जोधपुर

मुद्रक :

श्री चिम्मनसिंह लोढा

श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस,

लोढ़ा बाजार

ब्यावर

हीरकण्ठी के सरिस पे-
राखत हैं मुनि-राय ।
मुक्ता-रिपु जिमि जो करे-
नीर सीर को न्याय ॥
— कवि किंकर

गुरुदेव प्रवर्तक मुनि श्री नागचन्द्रजी महाराज

सम्पादक की ओर से

'जैन जीवन' पण्डित श्री हीरामुनिजी के विविध-विषयक सद्विचारों का संकलन है। इस संकलन में करीब पचास विषयों का समावेश किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ जिन विचारों की अभिव्यक्ति की गई है वे सभी मानवजीवन की वास्तविक सफलता के लिए अतीव उपयोगी हैं। उनमें यह सामर्थ्य है कि साधक यदि अपने जीवन में क्रियात्मप्रयुक्त करे तो वे जीवन को धन्य बना सकते हैं।

श्री हीरामुनिजी सन्त पुरुष हैं—अध्यात्मसाधना में निरत संयम और तप के आराधक मननशील और साधारण मानव की भूमिका से ऊँचे उठे हुए, पवित्र जीवन यापन करने वाले। उनमें सहज विनम्रता है। स्वभाव में सरलता संवेदनशीलता शुचिता और गम्भीरता सर्वत्र ही परिलक्षित होती है। ऐसा लगता है 'जैनजीवन' उनके जीवन का शब्दचित्र है।

आज पाश्चात्य सभ्यता के प्रबल प्रवाह से भारतीय जीवन का स्वरूप विकृत हो रहा है। इस देश के वासी अपनी चिरन्तनागत संस्कृति को विस्मृत करते जा रहे हैं। और ज्यों ज्यों हम अपनी आध्यात्मिकता से दूर हो रहे हैं हमारे जीवन में अशान्ति और असन्तोष की वृद्धि होती जा रही है। आज न धनी सुखी है न निर्धन। सब अशान्ति की लपटों में झुलस रहे हैं। वास्तव में हम सुख-सन्तोष और शान्ति के मार्ग से विमुख हो गए हैं। सुख सन्तोष और शान्ति पाने के विचार से दुःख असन्तोष और अशान्ति की राह पर सरपट भागे जा रहे हैं। संक्षेप में कहें तो आज की मानव जाति जीवन के बदले 'मौत के मार्ग' पर चलती जा रही है। परिणाम इसका वही हो रहा है जो होना चाहिए।

ऐसे विकट संकट के अवसर पर हम भारत के संतजनों से ही यह अपेक्षा रख सकते हैं कि वे मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होने वाली मानवजाति को जीवन की राह दिखाएँगे। लेखक महानुभाव ने प्रस्तुत संकलन में यही प्रशस्त प्रयत्न किया है। निस्सन्देह इस युग में इस प्रकार के विचारों का व्यापक रूप में प्रसार होना चाहिए जिससे मानव जाति विनाश की विभीषिका से बच सके और जीवन की उच्चता पवित्रता एवं दिव्यता प्राप्त कर सके। अतएव हम पाठकों की ओर से मुनिश्री के प्रति आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही उत्तम विचार प्रकट करके हमें जीवन की वास्तविक राह दिखाई है।

[illegible] निबन्धों का यह मधुर जीवन की बगिया में बढ़िया गुलदस्ता है।

ब्यावर
-५-६२

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

जैन जीवन : एक मूल्याङ्कन

*

कलात्मक जीवनपद्धति को ही जैन जीवन में अभिहित किया गया है। जैन-जीवन का वास्तविक अर्थ है विकार और वासनाओं से, राग और द्वेष से जूझते हुए जीना। उस मानव का जीवन ही उच्च और कल्याणकारी जीवन है जो शेर की भांति साहस और निर्भीकता का आदर्श बनकर अन्याय, अत्याचार, अनाचार, और भ्रष्टाचार को परास्त करते हुए आजाद बनकर जीता है। जो अज्ञानान्धकार को नष्ट कर जाज्वल्यमान प्रदीप की भांति प्रकाश करते हुए जीता है।

जैन जीवन में आचार और विचार की विशुद्धि पर अत्यधिक बल दिया गया है। जीवन को महान् और परम पवित्र बनाने के लिए ये दोनों एक दूसरे के पूरक माने गये हैं। विचार परिशोधन और आचार उद्दीपन जैन-जीवन के आधार स्तम्भ हैं। आचाररहित विचार गतिहीन है और विचाररहित आचार नेत्रहीन।

प्रस्तुत पुस्तक में मेरे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुरुभ्राता स्नेह और सौजन्यमूर्ति पं. श्री हीरामुनिजी ने जैन-जीवन संबंधी उन्हीं शाश्वत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। सम्यग्-आचार, सम्यग् विचार, जैन-संस्कृति, जैन दर्शन, अनेकान्तवाद, अहिंसा, अपरिग्रह, दान, शील, तप, भावना प्रभृति विषयों पर विशद विवेचन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का आद्योपान्त पारायण करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुनि श्री ने ग्रन्थनिर्माण करने की दृष्टि से ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु समय-समय पर जो निबन्ध लिखे उन्हीं का यह सुन्दर उपयोगी संग्रह है। समय-समय पर लिखने के कारण पुनरुक्ति हुई है। मेरी दृष्टि से यहाँ यह दोष में सम्मिलित नहीं होगी क्योंकि विषय को स्पष्ट करने के लिए ही उसका उपयोग हुआ है। और एक साथ न लिखने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

जैन जीवन में संगृहीत निबन्धों की भाषा प्राञ्जल है, भावों में गंभीरता है। धार्मिक भावनाओं की प्रचुरता है और मानव चरित्र की समीक्षा है और है भक्तिभाव की भावोर्मियों के साथ कला की कमनीयता का दिव्य संगम।

निबन्धों में यत्र-तत्र विशिष्ट-शिष्ट व्यक्तियों के उद्धरण दिये गये हैं जो सरल-सरस और मनोहारी हैं। विषय को स्पष्ट करने वाले हैं। मुनिश्री के मस्तिष्क का कपाट सदा खुला रहा है उन्हें जहाँ से भी विचारों का प्रकाश प्राप्त हुआ है वहाँ से वे सदा सर्वदा ग्रहण करते रहे हैं जो उनकी उत्कृष्ट एवं परिष्कृत रुचि का परिचायक कहा जा सकता है।

हिन्दी भाषा में जैन-धर्म, जैन जीवन जैन-दर्शन, जैन-संस्कृति आदि पर सरल भाषा में बोधगम्य शैली में लिखी गई पुस्तकों का प्रायः अभाव है। मुनिश्री की प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में सफल प्रयास है। मुझे आशा है पाठकों की ज्ञान वृद्धि में पुस्तक सहायक होगी।

महावीर जयन्ती
ता० ९-४-६३
जैन-स्थानक
[illegible] (मारवाड़)

देवेन्द्र मुनि
शास्त्री साहित्यरत्न

लेखक की लेखनी से

प्रबुद्ध पाठकों के पाणि-पद्मों में जैन-जीवन पुस्तक समर्पित करते हुए हृदय आनन्दविभोर है। यह मेरे द्वारा लिखित धार्मिक सामाजिक निबन्धों का संग्रह है। निबन्ध गद्य की कसौटी है। उस कसौटी पर ये कितने खरे उतरेंगे यह मैं नहीं कह सकता।

मेरे जीवन के भाग्य निर्माता जीवन के महान् कलाकार महास्थविर श्री ताराचन्द्रजी म. ने मुझे यह मन्त्र दिया कि समय बड़ा अनमोल है। जो क्षण चला जाता है वह पुनः लौट कर नहीं आता। अतः तुम समय की कद्र करो। यदि तुमने समय की कद्र की तो समय तुम्हारी कद्र करेगा। तुम्हारा जीवन चमक उठेगा। मूर्खों का समय व्यसन कलह और निद्रा में व्यतीत होता है और धीमानों का समय काव्य शास्त्र विनोद में। उन्हीं की प्रबल प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने धम्म स्वामी और जीवन पराग के पश्चात् यह दूसरी भेंट पाठकों को दे रहा हूँ।

जैन धर्म भारत का महान् धर्म है। वर्तमान काल में इसके आद्य प्रणेता भ० ऋषभ देव हैं और अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर हैं। इसके धार्मिक सिद्धान्त बड़े उदात्त हैं और दार्शनिक सिद्धान्त बड़े गहन हैं। जैन श्रमण होने के नाते मैंने सोचा कि जैन धर्म पर लिखना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। यद्यपि प्रस्तुत विषय के लिये गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है तथापि अन्तःकरण की प्रेरणा से इस पर कुछ लिख गया हूँ।

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के मन्त्री पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म. के चरणारविन्दों में रह कर मैंने जैन धर्म की शिक्षा प्राप्त की है और प्रसिद्ध प्रवचनकर्त्री विदुषी महासती श्री प्रेमकुंवरजी म० ने मुझे प्रोत्साहन दिया उनके प्रति आभार प्रदर्शन करने के लिए मेरे पास शब्द

नहीं है। प्रस्तुत निबन्धों के लिखने में उनका सन्मार्ग दर्शन मुझे प्राप्त हुआ है। और आशा है भविष्य में भी उसी तरह प्राप्त होता रहेगा।

सम्पादनकलामर्मज्ञ पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इन निबन्धों का सम्पादन किया है। पण्डितजी की प्रखर लेखनी का स्पर्श पाकर निबन्धों में जान आ गई है। वे निखर उठे हैं। सम्पादन मुझे अच्छा लगा है और मुझे विश्वास है कि पाठकों के मन को भी यह सुहायेगा।

अन्त में साहित्यरत्न शास्त्री श्री देवेन्द्र मुनिजी तथा साहित्यरत्न शास्त्री श्री गणेश मुनिजी का सहयोग भी भूलने जैसा नहीं है। वह स्मृतिपटल पर सदा ताजा रहेगा। पुस्तक के प्रकाशन में ब्यावर निवासी धर्मप्रेमी [illegible] श्रद्धालु श्रावक पुखराजजी भण्डारी सोजतसिटी व सांवलचन्दजी बाफना व समाजसेवी [illegible] [illegible] सिंघवी गोगुन्दा प्रभृति सज्जनों का सफल प्रयास भी चिरस्मरणीय रहेगा।

पमीत (मारवाड़)
माघ शोभा महोत्सव
तारीख १९ ४ ६३

हीरा मुनि

शिव प्रयास

श्रमण संघ के वयोवृद्ध और संयम वृद्ध मुनिवर म० के सुशिष्य श्री हीरा मुनिजी द्वारा आलेखित "जैन जीवन" के फरमे मैंने देखे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुनि श्री ने स्वल्प स्थान में जैन जीवन और उसके मौलिक सिद्धान्तों का सारगर्भित रूप से परिचय कराया है । इस निबंध संग्रह में संक्षेप में जैन संस्कृति को उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मानव मात्र के लिये इस संस्कृति में उत्थान के मूल्यवान् तथ्य संकलित हैं ।

यद्यपि अद्यतन अर्थमूलक जीवन एक समस्या का रूप ले रहा है जटिलता अनुदिन बढ़ती ही जा रही है स्वार्थ के कारण मानव मानव का निर्दयता के साथ शोषण कर रहा है ऐसी विषम स्थिति में केवल जैन जीवन ही एक ऐसा सरल और उदात्त मार्ग है जिसके अवलम्बन से प्राणी मात्र त्राण पाकर सृजनात्मक शान्ति का सुखद अनुभव कर सकता है ।

जैन संस्कृति उसी जीवन को सफल मानती है जिसके द्वारा परम्परा का निर्माण हो सके अर्थात् एक का जीवन दूसरे के लिये आदर्श रूप हो और यह तब ही सम्भव है जब जीवन संयम व्यक्ति का जीवन संयम की ओर उत्प्रेरित करने वाला हो। मुनि श्री ने लघुतम प्रयास द्वारा सामान्य मानव के लिये उच्चतम स्वाध्याय की जो सामग्री दी है वह बहुत ही उपयोगी और पथप्रदर्शक है। यह अत्यन्त शिव प्रयास है।

२४ भूपालपुरा उदयपुर,
दिनांक ९-१२-६१

मुनि कान्तिसागर

अनुक्रम

भगवान् महावीर ने इस सत्य को जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए फर्माया था—

अप्पा मित्तममित्तं च।

आत्मा यदि सन्मार्ग पर प्रस्थित है तो वह अपना मित्र है और यदि कुमार्गगामी है तो अपना शत्रु है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा के वास्तविक शत्रु उसके दुर्भाव है, अन्तःकरण के विकार है अन्दर की गन्दगी और मलीन वासनाएं हैं। इन शत्रुओं को जीत लेने के पश्चात् मनुष्य के लिये कुछ भी जेतव्य नहीं रह जाता। अतएव रागादि दोषों को जीतना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। यही परम विजय है। जिसने अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से विकारविहीन बना लिया है वह कृतकृत्य है, वही परमात्मा है। उसकी आत्मा में अनन्त ज्ञान और दर्शन की अलौकिक ज्योति जगमगा उठती है। वह निर्विकार निरंजन पुरुष 'जिन' कहलाता है।

'जिन' अवस्था सहसा नहीं प्राप्त हो जाती। अनादिकालीन विकारों को चुटकियों से नहीं हटाया जा सकता। उन्हें विनष्ट करने के लिए साधना का अवलम्बन लेना पड़ता है।

संसार के सभी आत्मवादी धर्म और पन्थ आत्मोत्थान के लिए किसी न किसी प्रकार की साधना का विधान करते हैं। उनमें से जो साधक जिन भगवान् द्वारा मार्गदर्शित और प्ररूपित साधना का अवलम्बन लेते हैं जो जिनेन्द्र के मार्ग पर दृढ श्रद्धा रखते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार उस पर चलते हैं, वे 'जैन' कहलाते हैं। व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति है—'जिनो देवता यस्य स जैनः'। अर्थात् जो रागादि दोषों के विजेता 'जिन' भगवान् को ही अपना देव स्वीकार करता है वही जैन है।

जिन भगवान् को अपना उपास्य आराध्य या आदर्श मानने वाला साधक स्वभावतः जिन के मार्ग पर चलेगा ही। कदाचित् नहीं चल सकेगा तो उस पर श्रद्धा और चलने की भावना अवश्य रक्खेगा।

किसी भी धर्म के उपासकों के दो वर्ग होते हैं। एक वर्ग वह जो गार्हस्थिक झंझटों से अपने आपको मुक्त कर लेता है और गृहत्यागी होकर निराकुलता के साथ आत्मकल्याण करता है और दूसरा वर्ग वह है जो गृहस्थावस्था में रहकर ही अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार धर्म का पालन करता है।

यही दो क्रम जैन धर्म के उपासकों में भी हैं—जिनकी साधना क्रमशः सर्वविरति चारित्र और देशविरति चारित्र कहलाती है। इस साधना का अनुष्ठान करने वाले उपासक ही वस्तुतः जैन कहलाते हैं। जो सर्वविरति साधना को अपनाते हैं वे चारित्र रूपी हीरे की चमक-दमक प्राप्त करके चार घनघातिया कर्मों का क्षय करके क्षीणमोहनीय गुणस्थान को पार करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। वे शरीर अवस्था में ही परमात्म पद के अधिकारी बन जाते हैं। उन्हें अरिहन्त भगवान् कहते हैं। अरिहन्त भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के अधिपति होते हैं। उनमें जो 'तीर्थंकर' नामक सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का बंध करके अरिहन्त पद प्राप्त करते हैं वे चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके और धर्म का उपदेश करके जगत् के जीवों को आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित करते हैं। जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं किया होता है और जो अरिहन्त पद प्राप्त कर लेते हैं, वे सामान्य केवली कहलाते हैं।

चाहे तीर्थंकर केवली हों चाहे सामान्य केवली दोनों की आध्यात्मिक सम्पत्ति समान होती है। उनके ज्ञान-दर्शनादि आत्मिक गुणों में किंचित् भी अन्तर नहीं होता। दोनों ही जैन साधना की आराधना की उच्चतम भूमिका पर पहुँच कर सयोगी जिन कहलाते हैं।

यही जिन भगवान् जब शेष रहे हुए अघातिक कर्मों का भी क्षय करने के लिए उद्यत होते हैं तो शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे पादों का अवलम्बन करके सूक्ष्म रूप से योग का निरोध करके अत्यल्प काल में ही शाश्वत निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। यहीं साधना की समाप्ति हो जाती है।

जो 'जैन' गृहस्थाश्रम में रहते हैं उनकी कोई एक नियत भूमिका नहीं होती। हाँ इतना कहा जा सकता है कि जैन कहलाने का अधिकार उसी को प्राप्त होता है जो कम से कम जिनप्रणीत तत्त्व पर आस्था रखता हो, जिन धर्म पर जिसकी रुचि और प्रतीति हो। भले ही वह देशविरति का पालन न करता हो तथापि उसमें सद्गृहस्थ के गुण तो होने ही चाहिये। जैन शास्त्रों के अनुसार 'जैन' होने के लिये कम से कम जो गुण आवश्यक हैं वे इस प्रकार हैं:—

१—धनोपार्जन में अन्याय अनीति का आश्रय न लेना।

२—विसदृश कुल शील वालों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध न करना।

३—मांसाहार न करना।

४—किसी की निन्दा न करना।

५—सदाचारी जनों की संगति करना।
६—माता-पिता की सेवा-भक्ति करना।
७—चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहना।
८—आय के अनुरूप ही व्यय करना।
९—आर्थिक स्थिति के अनुसार ही पोशाक पहनना।
१०—प्रतिदिन धर्म श्रवण करना।
११—नियत समय पर सात्विक भोजन करना और अजीर्ण होने पर न करना।
१२—धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि कोई किसी का बाधक न हो।
१३—अतिथि साधु और दीन असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करना।
१४—कभी दुराग्रह के वशीभूत न होना।
१५—गुणों का पक्षपाती होना प्रशंसक होना ग्राहक होना।
१६—देश और काल के अनुकूल व्यवहार करना।
१७—अपनी शक्ति और अशक्ति को समझना। सामर्थ्य का विचार करके किसी काम में हाथ डालना।
१८—सदाचारी और ज्ञानवान् पुरुषों की विनय-भक्ति करना।
१९—अपने आश्रित जनों का पालन-पोषण करना।
२०—दीर्घदृष्टि से हित-अहित का विचार करना।
२१—कृतज्ञ होना।
२२—अपने सद्व्यवहार से जनता का प्रेम सम्पादन करना।
२३—लज्जाशील और दयावान् होना।
२४—चेहरे पर शांति और प्रसन्नता झलकना।
२५—परोपकारपरायण होना।
२६—काम-क्रोधादि आन्तरिक छह शत्रुओं का दमन करने में उद्यत होना और इन्द्रियों पर काबू रखना इत्यादि।

इन गुणों की विद्यमानता में ही धर्म के संस्कार पनपते हैं मजबूत होते हैं और विकसित होते हैं। जब इन गुणों का विकास होता है तो मनुष्य अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का पालन करने में समर्थ बनता है।

'जैन' और 'जन' यह दो शब्द हैं। 'जन' के ऊपर कोई मात्रा नहीं 'जैन' में दो मात्राएं लगी हैं। यह दो मात्राएं 'जैन' के ज्ञान और चारित्र की विशेषता को प्रकट करती हैं। साधारण जन की अपेक्षा 'जैन' के जीवन में विशेषता होनी चाहिए। उसके प्रत्येक व्यवहार में जैनत्व की पुट रहना चाहिए। उसका आचार, व्यवहार, बर्ताव सब इस प्रकार का हो जिससे उसके धर्म की विशिष्टता प्रकट हो। वह प्रामाणिक सत्यवादी सत्य प्रिय हो। इससे उसका निज का जीवन उच्च और पवित्र बनेगा साथ ही उसके धर्म का भी महत्त्व बढ़ेगा। अगर 'जैन' के जीवन में कुछ भी विशेषता नहीं है दूसरों की भांति वह भी अनीति अन्याय छल-कपट झूठ आदि का आचरण करता है तो उसका जैनधर्म मानना किस काम का? वह 'जैन' कहला कर धर्म को बदनाम करेगा और अपने जीवन को भी कलुषित करेगा। इसके विपरीत जिसके जीवन में सच्चे जैनत्व का उदय होगा उसके सद्गुणों का सौरभ चारों ओर फैलेगा। वह जिसके सम्पर्क में आएगा उसी पर अपनी विशिष्टता की छाप अंकित करेगा। उसे प्रभावित करेगा। सन्मार्ग की ओर प्रेरित करेगा। उसके प्रत्येक व्यवहार से धर्म की महिमा प्रकट होगी। इस प्रकार वह अपना और साथ ही दूसरों का भी जीवन पवित्र बनाएगा।

जैनधर्म की प्राप्ति जन्म जन्मान्तर के पुण्यों से होती है। इसे प्राप्त करके जिसने अपने जीवन का उत्थान किया वह धन्य है। उसका जन्म सफल हुआ समझना चाहिए।

— —

जीवन :

जैसे स्नेह (तैल) सूत (बत्ती) और वैश्वानर का संयोग दीपक को जन्म देता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के संयोग से जीवन में लोकोत्तर ज्योति का आविर्भाव होता है। जिस जीवन में यह ज्योति न जगी हो, वह मानव-जीवन पशु जीवन के ही समान है।

मानव की आकृति पा लेना एक बात है और मानवोचित गुणों की प्राप्ति होना दूसरी बात। महत्त्व मानव आकृति का नहीं मानवता का है। बहुत से लोग मानवशरीर पाकर भी मानवोचित गुणों से शून्य होने के कारण वास्तव में मानव कहलाने योग्य नहीं होते। मानवोचित सद्गुणों के कारण ही मानव जीवन प्रशस्त बनता है।

वह मनुष्य अत्यन्त दया का पात्र है जिसका जीवन मानवीय सद्गुणों से विभूषित नहीं बन सका।

विश्व में असंख्य-अनन्त प्राणी हैं। असंख्य-असंख्य उनके प्रकार हैं। जिनमें सामान्य चर्मचक्षु जन जीवन की कल्पना तक नहीं कर सकते उन पृथ्वी पानी अग्नि वायु और वनस्पति में भी जीवन विद्यमान है। इनसे आगे चलें तो कृमि कीड़े मकोड़े आदि प्राणी आते हैं। उनमें जीवन के लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। उनसे भी कुछ अधिक विकसित चेतना वाले पक्षी और पशु हैं। इन सब में इतनी जातियाँ हैं कि हम उनकी गणना करने में समर्थ नहीं हैं।

मगर शान्त चित्त से इन प्रश्नों पर विचार किया जाय तो जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जायगा और एक नवीन प्रेरणा मिलेगी।

आज अधिकांश लोग जैसे आँखें मूंद कर जीवन की राह पर चल रहे हैं। उस चलने में न विचार है न विवेक है। किसी ने लक्ष्मी की आराधना को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है कोई सत्ता और प्रतिष्ठा के लिए जीवन का उत्सर्ग कर रहा है तो कोई भोगोपभोग भोगने में ही कृतार्थता अनुभव कर रहा है। ऐहिक कामनाओं से प्रेरित होकर ही लोग जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने समझ लिया है कि यह जीवन सदैव कायम रहेगा। अथवा इस जीवन के पश्चात् कोई सत्ता शेष नहीं रहेगी—पुनर्जन्म होगा ही नहीं। किन्तु यह दोनों ही विचार भ्रमपूर्ण हैं। न तो यह जीवन शाश्वत है और न इस जीवन के पश्चात् मनुष्य का मूल सत्ता सदा के लिए विनष्ट होती है। जीवन का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक—चेतना की सत्ता के रूप में चलने वाला है। वर्तमान जीवन तो उसकी एक छोटी सी शृंखला मात्र है।

इस तथ्य को जो हृदयंगम कर लेगा वह क्षणिक वर्तमान को ही सब कुछ न समझ कर अपने अनन्त भविष्य का अवश्य विचार करेगा। इस समय के क्षणिक और काल्पनिक सुख के लिए भविष्य को दुःखमय नहीं बनाएगा।

मानव जीवन की सार्थकता इस बात में है कि इस जीवन को स्थायी परिपूर्ण अव्याबाध और स्वाधीन सुख की सम्प्राप्ति के पवित्र ध्येय की पूर्ति में व्यय किया जाय। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति का प्रधान आधार सदाचार है। सदाचारमय जीवन अल्पकालीन हो तो भी उत्तम है। अतएव जीवन लम्बा हो यह चिन्ता त्याग कर इसी बात की चिन्ता करना चाहिये कि वह सदाचारमय हो उच्च कोटि का हो।

ऐसे आदमी बहुत मिलेंगे जो बड़े २ ज्ञानियों की तरह बातें करेंगे बुद्धि की बारीक छलनी में तत्त्वों को छानेंगे मगर जीवन की पवित्रता पाना टेढ़ी खीर है। स्वार्थ की बातें पूछने वाले बहुत हैं। प्रभुप्रेम को कौन पूछता है? किसी ने कहा है—

> सभी यह पूछते कि धन और माल कितना है?
> सभी यह पूछते कि जाहोजलाल कितना है?
> सभी यह पूछते कि कारोबार कितना है?
> मगर नहीं पूछता कोई खुदा से प्यार कितना है?

प्रभुप्रेम जिसमें हुआ उसमें सत्य, दया, ममता, समता आदि सद्गुण स्वयं आ जायेंगे और जब जीवन में यह गुण आ जाएंगे तभी मानव जीवन सार्थक और दिव्य बनेगा।

चिन्तामणि से भी अधिक मूल्यवान् मनुष्यजीवन को प्राप्त करके जिसने हिंसा, मूठ, चोरी एवं दुराचार में लगा दिया वह मानो जिन्दा ही मर गया। जीवन में आग लगाने वाली कामना है जिसके दिल में कामनाओं की आग जलती रहती है उसे शान्ति कभी नसीब हो सकती है? वह हजारों अपराधों का केन्द्र बन जाता है।

धर्म की आराधना से ही जीवन पवित्र बनता है। धर्म जीवन का प्राण है। इसलिए आत्माओं का आधार धर्म के सिवाय कोई भी नहीं। धार्मिक जीवन में यदि आपत्तियाँ आती है तो उनसे धार्मिक जागृति होती है। अतएव चित्तस्थिरता निर्वैरता निराकुलता और निर्भयता धारण करके धर्म की आराधना करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीवन सफल हो सकता है।

यदि धर्मशास्त्र गुरुओं महात्माओं की आत्मकहानियाँ स०-य स्पष्ट हैं— अगर जीवन में परिवर्तन लाना है या विकास करना है तो दृष्टि बदलो। सृष्टि अपने स्वभाव में रहती है। वह अपने विचारों के साथ नहीं बदलती। अतएव दृष्टि ही बदलना होगी। यदि दृष्टि बदल लोगे तो सृष्टि स्वयं मानो बदली हुई सी दिखाई देगी।

जीवन का उच्च आदर्श प्राप्त करने के लिए दृष्टिपरिवर्तन करना अनिवार्य है। जब तक दृष्टि बहिर्मुख है तब तक जीवनशुद्धि नहीं हो सकती। जो विवेकवान् मानव दृष्टि को अन्तर्मुखी बनायेंगे और ज्ञान-चारित्र की आराधना करेंगे वही इस अनमोल जीवन का सच्चा लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

———

जैन जीवन :

वीतराग रूपी हिमाचल से उद्‌गत हुई वाणी-गंगा के अमृत के पिपासु, जिज्ञासु और उसके अनुकूल आचरण करने वाले जैन कहलाते हैं। जैन के जीवन में आचार और विचार प्रमुख होते हैं।

किसी जिज्ञासु जन ने अपने जीवन में जिज्ञासाओं को स्थापित करने की भावना से प्रश्न किया—

कहं चरे कहं चिट्ठे,
कहमासे कहं सए ?
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ?॥

हे भगवन् ! चलना-फिरना खाना-पीना उठना-बैठना आदि क्रियाएं तो अनिवार्य हैं। उनके बिना जीवन टिक नहीं सकता। ऐसी स्थिति में अनुग्रह करके यह बतलाइए कि यह क्रियाएँ किस ढंग से की जाएं जिससे पाप से बचा जा सके ? किस प्रकार चलें किस प्रकार खड़े हों किस प्रकार बैठें किस प्रकार शयन करें किस प्रकार भोजन करें और किस प्रकार भाषण करें ?

उत्तर दिया गया—

जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंतो भासंतो
पाव कम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक अ० ४

अर्थात्—पाप की कालिमा से बचने के लिए यह आवश्यक नहीं कि समस्त क्रियाओं का त्याग कर और श्वास रोक कर मनुष्य अपने जीवन का अन्त कर दे। अगर ऐसा किया भी जाय तो भी जीवन का अन्त नहीं हो सकता। एक जीवन के पश्चात् तत्काल ही दूसरा जन्म और जीवन तैयार है। जीवन की अनिवार्य क्रियाएँ अपने आप में पाप नहीं हैं। उनके पीछे जो प्रमाद राग द्वेष आदि दुर्भावनाएं हैं, वही उन्हें पापरूप बनाती हैं। अतएव जिसने उन दुर्भाव भावों का परित्याग कर दिया है उसकी क्रियाएँ पापबन्ध का कारण नहीं होतीं। इसी कारण यहां शास्त्रकार कहते हैं—

विवेक और यतना से चले खड़ा रहे बैठे शयन करे और विवेक यतना से ही भोजन एवं भाषण करे। इस विधि से प्रवृत्ति करने वाला साधक बाह्य क्रियाएं करता हुआ भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

निष्पाप जीवन-यापन करने के लिए जैन शास्त्र में कितनी सुन्दर विधि बतलाई है।

जैन धर्म अत्यन्त उदार धर्म है। किसी भी वर्ण का किसी भी जाति का किसी भी देश का मनुष्य उसका पालन कर सकता है। पतित से पतित और पापी से पापी व्यक्ति भी अपने जीवन में समुचित परिवर्तन करके उसकी शरण में आ सकता है। अर्जुन मालाकार का उदाहरण हमारे सामने है। राजा प्रदेशी की [illegible] आज भी प्रजा का मस्तक चमका रही है। जिनके हाथ नरहत्या के लिए उठते थे वे भी जैन धर्म की शरण में आकर जैनजीवन अंगीकार करके कल्याण के भागी बन गए।

उदाहरण खोजने के लिए दूर जाने की क्या आवश्यकता है? मेरे पूर्व जीवन की घटना ही पर्याप्त है। एक समय था कि इन पंक्तियों का लेखक पञ्चेन्द्रिय जीवों के घात जैसे महान् पापाचरणों में अपने जीवन का आनन्द मान रहा था। उसका जीवन [illegible] से [illegible] पदार्थों में [illegible] था। ज्ञान का प्रकाश मिला। नया जन्म मिला। पापमय अनेक प्रवृत्तियों का परित्याग कर दिया। [illegible] विचार छोड़कर [illegible] बना। धर्मशासन में प्रवृत्ति करने लगा। जीवन सदाचारमय बन

गया। आज मेरे जीवन में रग-रग में जैनधर्म के प्रति अगाध श्रद्धा है। जैन धर्म की कल्याणकारिणी प्रवृत्तियाँ मुझे अतीव रुचिकर लगती हैं।

मेरे उस जंगली जीवन में परिवर्तन लाने का श्रेय सद्गुरुणी श्री श्रीमकुंवरजी महाराज को है। उनके उपकार का वर्णन करने में यह लेखनी असमर्थ है। उनकी परम करुणा से मैंने जैन जीवन पाया। एक देहाती घसियारा जैसे राजा बन गया।

जैन जीवन अङ्गीकार करने पर मनुष्य कितनी ऊँचाई प्राप्त कर सकता है इस तथ्य को मैं अपने ही जीवन से समझ रहा हूँ।

जो एक बार समझ-बूझ कर जैन जीवन को अङ्गीकार कर लेता है वह घोर से घोर विपत्ति में पड़कर भी हृदय से उसका परित्याग नहीं करेगा।

इत्र को मिट्टी में मिलाकर भी महक जाती नहीं।
तोड़ डालो तो भी हीरे की चमक जाती नहीं॥

राजर्षि गजसुकुमार के मस्तक पर दहकते हुए अङ्गार रक्खे गए। मगर उनके स्वभाव की चमक मन्द न पड़ी। क्षमामूर्ति अर्जुनमाली की देह मिट्टी में मिल गई। मगर क्षमा की महक नहीं गई। उन्होंने श्रद्धापूर्वक जैन जीवन अंगीकार किया था। वे सच्चे जैन जीवन को स्वानुभूति से छक गये थे। भयानक से भयानक उपसर्ग भी उन्हें प्रकम्पित नहीं कर सके।

त्यागियों में ही नहीं गृहस्थों में भी अनेक वीर पुरुष ऐसे हो चुके हैं। श्रावक कामदेव और अर्हन्नक (अरणक) की कथा किसने नहीं सुनी है?

जैन जीवन की यह सजीव अमर प्रतिमाएँ हैं। इनके प्रेरणाप्रद पावन चरित से जैन-जीवन का स्वरूप समझा जा सकता है। वस्तुतः जैन-जीवन एकान्ततः स्पृहणीय होता है आदर्श होता है। जिस दिन समग्र मानव जाति इस जीवन को अपना लेगी उसी दिन पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आएगा। फिर न पुलिस की आवश्यकता होगी न न्यायालय की और न राजकीय शासन की। सभी लोग अन्तःकरण की प्रेरणा से शासित होंगे। सारा संसार एक प्रेमी परिवार के समान स्नेह के सूत्र में बँध जाएगा। कोई किसी का विरोधी न होकर सभी सब के सहायक होंगे। सुख और शान्ति की अखण्ड पीयूष-धारा प्रवाहित होगी। तथास्तु!

सच्चा सीधा और लक्ष्य तक पहुँचा देने वाला मार्ग ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है किन्तु इसी कठिनाई को हल करने में ज्ञानी के परमपुरुषार्थ की सार्थकता है।

यात्री प्रायः चौराहे पर भूला करता है। मनुष्य मात्र भूल का पात्र है। मगर किसी भले आदमी को शिक्षा—पथप्रदर्शन पाकर पुनः सही राह पकड़ लेना मनुष्य के लिए उचित है।

यों तो सर्वत्र ही मगर विशेष रूप से भारतवर्ष में पंथों की भरमार है। किस पंथ को छोड़े ? किसे पकड़े ?

जितनी दुकानें है उतने नाम होते हैं। मगर जितनी दुकानें है, उतने भाव नहीं हो सकते। पंथ कितने ही हो सकते हैं मगर गन्तव्य स्थान तो एक होना चाहिए और वे पंथ उस तक पहुँचाने वाले होने चाहिए। मगर यहाँ तो विभिन्न नामों की प्रधानता है।

पंथों की विविधता सामान्य जन को चक्कर में डाल देती है। कभी कभी तो सच्ची और सीधी राह पर चलता हुआ राही भी उलटी राह पकड़ लेता है। इसीलिए आप्त पुरुष की वाणी पर अटल-अचल श्रद्धा रखने की आवश्यकता है।

आज यह अगणित पंथ पैदा हो गए हों सो बात नही। चौदह गुणस्थान अनादि काल से है, अतएव मिथ्यात्व और सम्यक्त्व भी अनादिकालीन है। विविध पंथों के अनुयायियों की वेशभूषा भी भिन्न-भिन्न होती है। उत्तराध्ययन मे एक जगह आया है—

चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मुण्डिणं।
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीलं परियागयं॥

कोई वस्त्र पहनते है, कोई वृक्ष की छाल धारण करते हैं, कोई नग्न रहते है तो कोई मस्तक पर जटा धारण करते हैं। कोई गुदड़ी से शरीर को आच्छादित करते हैं तो कोई मस्तक का मुण्डन करवाते हैं।

सब के अलग अलग अखाड़े हैं। कोई मठों में कोई मन्दिरों में कोई स्थानक-उपाश्रय में आश्रम में विहार में या आश्रम आदि स्थानों में निवास करते हैं। किसी के मस्जिद है तो किसी का अड्डा गिर्जा है।

जैनों में कब संघभेद हुआ इस सम्बन्ध में इतिहास पूरी तरह प्रकाश नहीं देता। लेकिन हम देखते हैं कि जैनसंघ भी अनेक पंथों में विभक्त हो गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर उसके मुख्य विभाग हैं। दिगम्बर मुनि वस्त्र के एकान्त त्यागी होते हैं। श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं।

श्वेताम्बर पंथ में भी मूर्तिपूजक स्थानकवासी और तेरापंथी नामक उपशाखाएँ हैं। मूर्तिपूजकों में गच्छभेद की पहचान के लिए वेष में भिन्नता है। कोई श्वेत और कोई पीत वस्त्र पहनते हैं। मुखवस्त्रिका हाथ में रखते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी श्वेत ही वस्त्र धारण करते हैं और मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधते हैं। हाथ में रजोहरण और पात्र की झोली होती है। तेरापंथियों की मुखवस्त्रिका कुछ लम्बी होती है और रजोहरण की लकड़ी भी कुछ लंबी होती है।

तात्पर्य यह है कि विविध पंथों के साधकों—साधुओं परिव्राजकों संन्यासियों फकीरों आदि की वेशभूषा में भी अन्तर देखा जाता है और यह अन्तर उनकी पहचान के लिए आवश्यक समझा गया है।

इस प्रकार पंथों और उनके वेषों की विविधता को देखकर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुमुक्षु जीव किस पंथ का अनुसरण करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है?

— —

सच्ची राह :

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

— तत्त्वार्थसूत्र

राहों का क्या कहना है ? जो जिधर मुड़ पड़ा, उधर ही राह बन गई। मगर सभी राहें मनुष्य को निर्दिष्ट मंजिल तक नहीं पहुँचा सकती। मंजिल—परिनिर्वाण-मोक्ष तक पहुँचाने वाली राह है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का समन्वय। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को अभेदविवक्षा करके कहा गया है—'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए ज्ञान और अनुष्ठान की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रयत्नशून्य कोरी जानकारी से सफलता हासिल नहीं होती और ज्ञानविहीन प्रयत्न से भी मनुष्य सफलता का वरण नहीं कर सकता।

आत्मतत्त्व पर गहरी श्रद्धा हो आत्मा-परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान हो और फिर तदनुकूल आचरण किया जाय तो सिद्धि का लाभ होता है। यही साधक के लिए सच्ची और एक मात्र राह है। इसी राह पर चल कर अनन्त साधकों ने चरम सिद्धि प्राप्त किया है और कर रहे हैं।

जैनधर्म में दो पहलू हैं—निश्चय और व्यवहार। मनुष्य को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए इन दोनों पहलुओं की उतनी ही आवश्यकता है जितनी जीवन में अन्न और पानी की।

दोनों पहलू जीवन की दो पाँखें हैं। केवलज्ञानी अरिहन्त या निरंजन निराकार सिद्ध हमारे देव हैं निर्ग्रन्थ मुनि गुरु हैं और दयामय धर्म है। यह सब व्यवहार की व्याख्या है। निश्चय में तो आत्मा ही देव है आत्मगुण ज्ञान ही गुरु है और बाह्य भावों से विमुख होकर स्वात्मस्वरूप में रमण करना ही धर्म है। मगर व्यवहार और निश्चय के यथोचित समन्वय में ही कृतार्थता है। जीवन

की राह पर विचार करते हुए यह भी समझ लेना अनुचित न होगा कि जीवन क्या है ?

एक भावुक मन्य ने गुरु के समक्ष प्रश्न प्रस्तुत किया—'किं जीवनम् ? अर्थात् जीवन क्या है ?

साधारणतया प्राणधारण को जीवन कहते हैं मगर प्राणों का धारण करने मात्र से जीवन के महान् उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। जिस जीवन का अर्थ श्वास लेना मात्र है उसका क्या लाभ है ? वह तो कालक्षेप मात्र है। जीवन के महान् उद्देश्य की सिद्धि जिस विशिष्टता के कारण होती है वही विशिष्टता वास्तव में जीवन है।

जनशास्त्रों के अनुसार जीवन कई प्रकार के होते हैं। चक्रवर्ती सम्राट् का जीवन भोगजीवन है। साधु का जीवन संयमजीवन है। तीर्थंकर भगवान् का जीवन यश-कीर्तिमय जीवन है।

फिर आगे चलें तो—किसी का चिरजीवन है, किसी का क्षणभंगुर जीवन है किसी का निर्दोष जीवन है तो किसी का सदोष जीवन है। कोई कहता है—'आयो जीवस्य जीवनम्।' किसी के मतानुसार जल जीवन है तो किसी की दृष्टि में अन्न जीवन है।

मगर यह सब लोकव्यवहार की बातें हैं। इनमें पारमार्थिक दृष्टि का समावेश नहीं है।

आचार्य ने उक्त प्रश्न का जो उत्तर दिया उसकी ओर ध्यान आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। वे कहते हैं—'दारविवर्जितं यत्।'

सच्चा जीवन वह है जो निर्दोष हो, निर्विकार हो जिसमें मलीनता न हो कलुषता न हो कायरता न हो मोहता न हो। जिसमें यह विशेषताएं नहीं हैं वह श्वास भले लेता हुआ भी जीवित नहीं—मुर्दा है।

उक्त विशेषताएं प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानादि का सेवन करना ही जीवन को सच्चा रहा है।

——

ज्ञानगरिमा :

'ज्ञायन्ते पदार्था अनेन-इति ज्ञानम्' अर्थात् जिस आत्मिक शक्ति के द्वारा जीव अजीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के पाँच प्रकार है—

तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं ॥

—उत्तरा० २८ १४

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो बोध होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। कानों से शब्द सुनना आँखों से रूप देखना नासिका से गंध को जानना रसना से स्वाद का अनुभव होना आदि मतिज्ञान है।

शब्द श्रवण करने के पश्चात् वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध के आधार पर अर्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान कहलाता है। आगम श्रुत है किन्तु शब्दागम द्रव्य श्रुत है।

इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही सिर्फ रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान देवों और नारक जीवों को जन्म से ही प्राप्त रहता है, मगर मनुष्यों और तिर्यचों को ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से प्राप्त होता है और उसके अभाव में नहीं होता।

अवधिज्ञान कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है और अधिक से अधिक समस्त लोकाकाशवर्ती रूपी पदार्थों को जान सकता है।

अवधिज्ञान का क्षेत्र यद्यपि बहुत विशाल है तथापि वह सभी जीवों के मन के पर्यायों को विशुद्ध रूप से जानने में समर्थ नहीं होता। उन्हें जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय कहलाता है।

केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट और परिपूर्ण ज्ञान है। वह तीनों कालों और तीनों लोकों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता है।

इन पाँच ज्ञानों की दो श्रेणियाँ हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। प्रारम्भ के दो ज्ञान—मति और श्रुत—परोक्ष के अन्तर्गत हैं और अन्तिम तीन—अवधि, मनःपर्याय और केवल—प्रत्यक्ष की श्रेणी में परिगणित हैं। मगर प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं – सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु लोक में प्रत्यक्ष माना जाता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को प्राप्त हो सकता है मगर मनःपर्याय और केवलज्ञान साधनासापेक्ष हैं और वह साधना मनुष्य में ही हो सकती है अतएव यह दोनों ज्ञान मनुष्य के सिवाय किसी अन्य गति में स्थित जीव को प्राप्त नहीं होते। सामान्य मति और श्रुतज्ञान न्यूनाधिक रूप से सभी प्राणियों में पाये जाते हैं।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर जीव अर्हत्, जीवन्मुक्त या सर्वज्ञ हो जाता है। ऐसा जीव को नियमतः उसी भव में मुक्ति प्राप्त होती है। वह जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

तीर्थंकर केवली जो तत्त्वोपदेश करते हैं उसी के आधार पर आगमों का निर्माण होता है।

वैदिक धर्म के अनुयायियों के विचार-विमर्श के मत से अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। वह अनादिकाल से चले आ रहे हैं। किसी ने उनका निर्माण नहीं किया है। किसी का कहना है कि वे ईश्वरकृत हैं। किन्तु प्रश्न होता है कि देहधारी पुरुष के बिना किसी भी ग्रन्थ या शास्त्र की रचना किस प्रकार सम्भव हो सकती है?

अकार आदि अक्षर अर्थात् स्वरों और व्यंजनों की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न अवयवों से होती है। वर्णों का उत्पत्तिस्थान मुख है पर मुख का

उत्पत्तिस्थान तालु है ट वर्ग को उत्पत्ति मूर्धा मे होती है, त वर्ग की वर्त्तों से और प वर्ग की ओष्ठ से। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में प्रत्येक वर्ण की उत्पत्ति शरीर के किसी न किसी अवयव से ही मानी गई है और वह अनुभवसिद्ध भी है।

वेद वर्णात्मक है यह भी निश्चय है। ऐसी स्थिति में बिना पुरुष के या अशरीर पुरुष के वेदों का निर्माण किस प्रकार हो गया ? इस प्रश्न का कोई सही समाधान नहीं है।

जैन विचारधारा के अनुसार आगम के विषय में कोई अटपटी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती। मानवदेहधारी साधक अपनी उग्र साधना के बल से कर्मरिपुओं पर विजय प्राप्त करते हैं और सर्वज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। उस समय वे जगत् के जीवों का उपकार एवं उद्धार करने के लिए वाणी का प्रकाशन करते हैं। वे तीर्थंकर कहलाते हैं। उनकी वाणी को उनके विशिष्ट मेधावी शिष्य गणधर ग्रन्थ के रूप में ग्रथित करते है। वह श्रुत आगम या शास्त्र कहलाते हैं।

पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों में से मनःपर्याय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि विशिष्ट आत्माओं को ही होते हैं किन्तु प्रारम्भ के तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि को भी होते हैं। जब वे मिथ्यात्व के साथ होते हैं तो दूषित होने के कारण मिथ्याज्ञान कहलाते है और सम्यक्त्व के साथ होते है तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा जीव पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करता है। आगम में कहा है—

नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सर्वभावाहिगम जणयइ।

ज्ञानसम्पन्नता से जीव को समस्त भावों की यथार्थ अधिगति होती है।

जैसे ससूत्र सुई गुमती नहीं है उसी प्रकार ससूत्र अर्थात् श्रुतवेत्ता पुरुष संसार मे विलुप्त नहीं होता। उसे नाना योनियों में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। वह शुभ विनय तप चारित्र प्राप्त कर स्वसमय (स्वकीय सिद्धान्त) और परसमय का समर्थ ज्ञाता होता है। ज्ञान के द्वारा उसके आन्तर नेत्र प्रस्फुटित हो जाते हैं। वह अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझने में समर्थ बनता है।

जगत् में जनजीवन ज्ञान के द्वारा ही सर्वप्रकारेण प्रकाश में आता है। उसके प्रतिपक्षी अज्ञान से मनुष्य घोर मूढता के वशीभूत होकर, पथभ्रष्ट पथिक के समान विभिन्न प्रकार के दुःखों का भाजन बनता है।

आत्म-ज्ञान सब से बड़ा ज्ञान है। जिसने अपने आपको नहीं पहचाना वह बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी वास्तव में अज्ञानी है।

सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडंबियं।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

यह आत्म ज्ञानी की चित्तवृत्ति का सजीव चित्र है। गीत मात्र एक प्रकार का प्रलाप है। नाचना कूदना और नाटक करना विडम्बना मात्र है। इस प्रकार के प्रलाप में सुख नहीं आत्मजागृति नहीं। जिसे आत्मा को पहचानना है और आत्मरमण का अद्भुत आनन्द प्राप्त करना है उसे इस प्रकार की बाह्य चेष्टाओं से दूर ही रहना चाहिए और आत्मचिन्तन में निरत होना चाहिए।

आभूषणों में सुख की कल्पना भ्रम मात्र है। वस्तुतः ये देह पर भार हैं। यदि पुण्य प्रबल है सातावेदनीय का उदय है तथा खान-पान का संयम है तो बिना आभूषण भी सुन्दरता सुरक्षित है। मृग मयूर, तोता आदि आभूषणों के बिना भी दर्शनीय होते हैं।

कामभोग सर्व प्रकार से दुःख बढ़ाने वाले हैं। जीवन का प्रत्येक पतन कामना एवं कामभोगों के सेवन से प्रारम्भ होता है। जीवन को दुर्बल बनाना ही कामना का फल है। अतएव ज्ञान का सार यही है कि मनुष्य आत्मा को मलीन बनाने वाली प्रवृत्तियों का परित्याग करके आत्मोत्थान के पथ पर अग्रसर हो।

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।

अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया॥

किसी भी प्राणी को स्वप्न में भी कष्ट न पहुँचाना अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को अहिंसामय बनाना निरन्तर संयम एवं समभाव में निरत रहना ही सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने का सार है। 'ज्ञानस्य फलं विरतिः' अर्थात् ज्ञान का फल दुराचार से निवृत्त होना ही है। दुराचार से उपरत करने वाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और ज्ञानहीन क्रिया भी व्यर्थ है।

जो संसार के स्वरूप का ज्ञाता है उसे संसार में भय रहता है वह पाप नहीं करेगा। इसलिए वह सुन्दर आचरण का ही ध्यान रखेगा किन्तु निर्बल बन कायर नहीं होगा। उसका प्रत्येक क्रिया विवेक एवं यतना के साथ होगी।

ज्ञान के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं है। ज्ञानहीन जीवन का कुछ मूल्य नहीं है।

ज्ञान आत्मा का असाधारण स्वरूप है। आगम में कहा है—

जे आया से विन्नाया
जे विन्नाया से आया।

जो आत्मा है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। अतएव ज्ञान का विकास करना आत्मा का विकास करना है।

किसी प्राणी भूत जीव और सत्व की हिंसा न करना किसी को भय न देना दास न बनाना अधर्मपूर्वक आज्ञा न देना एवं परिताप उत्पन्न न करना यही तीनों कालों के तीर्थ करों की घोषणा है। इसे जीवन मे व्यवहृत करना ज्ञान की सार्थकता है।

दर्शनगरिमा

धर्मशास्त्रों में सम्यग्दर्शन को रत्न की उपमा दी गई है। रत्न अनेक प्रकार के होते हैं। चिन्तामणि रत्न उन सब में श्रेष्ठ माना गया है। मगर सम्यक्त्व रत्न उससे भी अनन्तगुणा मूल्यवान् है। सच तो यह है कि पौद्गलिक रत्नों की सम्यग्दर्शन रत्न के साथ कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाता है। वही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और चारित्र को सम्यक्चारित्र बनाता है। वही मोक्ष रूपी महल का प्रथम सोपान है।

सम्यग्दर्शन अपूर्व और अद्भुत ज्योति है। उसका महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि जिस आत्मा में वह अन्तर्मुहूर्त भर के लिए प्रकट हो जाता है उसे मुक्ति प्राप्त करने का प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाता है। ऐसा आत्मा अर्धपुद्गल परावर्तन काल से अधिक भवभ्रमण नहीं करता।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही आत्मा की रुचि और प्रतीति में सहसा महान् परिवर्तन आ जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

जीव अजीव आस्रव आदि नौ तत्त्वों पर वास्तविक श्रद्धा होना अर्थात् जिनवाणी पर दृढ़ श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि का दृढ़ निश्चय होता है—

तमेव सच्चं नीसंकं
जं जिणेहिं पवेइयं।

वीतराग महापुरुषों ने जो प्ररूपणा की है वही सर्वथा सत्य है और असंदिग्ध है। उसमें संशय के लिए कोई अवकाश नहीं है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इस विश्व में सब से बड़ा लाभ है। इससे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं हो सकता। वह दो प्रकार से प्राप्त होता है—

तन्निसर्गाद्धिगमाद्वा।

अर्थात्-निसर्ग से या अधिगम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

कोई भव्य प्राणी संसार में भटकता भटकता और अकाम कष्ट सहन करके निर्जरा करता-करता ऐसी स्थिति में आ जाता है कि उसके कर्म कुछ हल्के हो जाते हैं। कम हल्के होने पर आत्मा के वीर्य की वृद्धि होती है। तब वह अपूर्व करण और यथाप्रवृत्तिकरण करके राग-द्वेष की सघन ग्रन्थि का भेदन करके अनिवृत्तिकरण के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परोपदेश के बिना ही प्राप्त होने वाला सम्यग्दर्शन निसर्गज कहलाता है।

दूसरे प्रकार के प्राणियों का उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव चाहे संयम अंगीकार करे अथवा न करे, किन्तु उसकी आत्मा सात्त्विक ज्ञान और श्रद्धान के कारण इतनी निर्मल हो जाती है कि वह जलकमलवत् भोगों में लिप्त नहीं होता। उसकी दृष्टि अतीव विशुद्ध हो जाती है। उसमें प्रशम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव विशिष्ट रूप से उदित हो जाते हैं। उसका मिथ्यात्व भाव नष्ट हो जाता है।

दंसणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?
दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ।

दर्शनसम्पन्नता से भवभ्रमण का हेतु मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। मिथ्यात्व के नाश से आन्तर तम दूर होता है और दिव्य ज्योति प्रकट हो जाती है।

स्वभावदशा से विमुख गति करना ही मिथ्यात्व का फल है। स्वभावदशा को समझकर उस पर पूर्णतया विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

विश्वास की भूमिका पर आने वाला आत्मा संसार में भटकता नहीं। जैसे बीहड़ वन में भूला हुआ यात्री एक बार स्टेशन पर पहुँच जाय तो फिर सुगमतापूर्वक अपने इष्ट स्थान पर चला जाता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपनी अन्तिम मंजिल-मोक्ष में पहुँच जाता है।

अहिंसा संयम और तप से संबंध रखने वाले जितने धर्म पथ हैं, वे सब कल्याणकारी स्टेशन हैं। मुक्ति का यात्री उन्हें क्रमशः पार करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है।

कोई यात्री सवारी गाड़ी को पकड़ कर आगे बढ़ा। मगर खान-पान आदि की सामग्री पर ललचाकर किसी स्थान पर उतर गया और रुक गया। फिर वहीं का वासी बन गया। वह अपने ठिकाने नहीं पहुँच सका तो दोष स्टेशन का नहीं उसी का है। हमें बोध के समस्त प्रलोभनों को जीत कर अपने इष्ट स्थान पर जाना है।

जब हम स्वयं किसी मार्ग से अपरिचित हों तो जानकार के कथन पर विश्वास करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार आत्मोत्थान के पथ पर अग्रसर होने के लिए अनुभवी त्यागी गुरु पर दयामय धर्म पर और निरंजन देव पर श्रद्धा रखना आवश्यक है। विश्वास बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती। अविश्वासी की सर्व योजनाएँ अधूरी होती हैं। कवि आनन्दघन ने कहा— श्रद्धा बिना क्रिया निरर्थक है। छार पर लेप लगाने के समान है—

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धा विन सर्व क्रिया करी
छार पर लिंपणु तेह जाणो।

आम तौर पर दर्शन शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत होता है। दृश् धातु से दर्शन शब्द बना है जिसका देखना अर्थ प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ विचारधारा है जैसे जैन दर्शन बौद्ध दर्शन आदि। तीसरा अर्थ श्रद्धान है। यहाँ श्रद्धान अर्थ ही विवक्षित है। सम्यग्दर्शन ही जीवनोत्थान की भूमिका है।

उपाध्याय अमर मुनिजी के शब्दों में—यह आत्मदेवता अनन्त काल से मिथ्यात्व रूप अन्धकार में भटकता-भटकता असत्य की उपासना करता-करता जब कभी भव की विश्रामभूमिका पर आता है तो वह उसके लिए स्वर्ण-प्रभात का शुभअवसर आता है।

यह है सम्यग्दर्शन की संक्षिप्त झाँकी।
सम्यग्दर्शन मोक्षधाम में प्रवेश करने के लिए 'पासपोर्ट' है। इसी के सहारे हम वहाँ प्रवेश कर सकते हैं। जिसके पास यह पासपोर्ट नहीं है उसे मोक्ष धाम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।

श्रद्धा है सार सार श्रद्धा न हो तो जैसो छार,
श्रद्धा बिना जीव क्यार जिनवर कर नामी है ।४

जैनधर्म का प्रत्येक पहलू न्याय की कसौटी पर परखा गया है। एक बार उसे समझ लेने पर फिर संशय के लिए अवकाश नहीं रहता।

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावन्न—कुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ।

परमार्थ का विशेष परिचय करना जिन्होंने परमार्थ को समीचीन रूप से जाना है उनकी सेवा करना तथा पतित एवं कुदर्शनी से दूर रहना ही सम्यग्दर्शन की आराधना है।

सम्यग्दर्शन के बिना समस्त ज्ञान और आचरण मिथ्या होता है। वही मोक्षसाधना का प्रथम एवं प्रधान आधार है। अतएव सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाना प्रत्येक साधक के लिए हितकर है।

होकर लगीं। तत्पश्चात् पुण्य के उदय से क्रमशः विकास किया और किसी समय तीर्थकर नामकर्म उपार्जन कर लिया। फिर प्रत्येक मानव के समान अपने चरम भव में माता के उदर से जन्मे। बाल्यावस्था को पार करके यौवन वय में आए। पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से वैराग्य भाव प्राप्त किया। यथाविधि संयम पाला। घोर तपश्चर्या की। कुछ काल अधिक बारह वर्ष की उत्कृष्ट साधना द्वारा चार घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की।

मोहनीय ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय अन्तराय—इन चार कर्मों के समूल क्षीण होने पर स्वतः ही केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त होता है। चार कर्मों के क्षय से अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि होने पर आत्मा अरिहन्त कहलाता है। क्योंकि उनके मोहजनित समस्त विकार रूपी रिपु ध्वस्त हो जाते हैं। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग और अनंत आत्मानन्दमय जीवन्मुक्त परमात्मा हैं।

अरिहन्त भगवान् को केवली भगवान् भी कहते हैं। अरिहन्त केवली दो प्रकार के होते हैं—(१) तीर्थंकर केवली और (२) सामान्य केवली। दोनों प्रकार के केवलियों की आध्यात्मिक सम्पत्ति समान होती है। उसमें किंचित् भी न्यूनाधिकता नहीं होती। तीर्थंकर की जो विशेषता है वह बाह्य वैभव में है। वे स्वयं बुद्ध होते हैं बिना गुरु की सहायता लिये साधना करके कैवल्यलाभ प्राप्त करते हैं और नये सिरे से तीर्थ– शासनतन्त्र की स्थापना करते हैं। अनेक पूर्वजन्मों के सत्संस्कारों से सम्पन्न होने के कारण एवं जन्म से ही अवधिज्ञान नामक दिव्य ज्ञान से विभूषित होने के कारण इनकी आत्मा इतनी विकसित एवं जागृत होती है कि उन्हें दूसरे के पथप्रदर्शन की आवश्यकता ही नहीं रहती।

साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका यह चार तीर्थ हैं और इनके संघ के निर्माता तीर्थंकर हैं।

भगवान् तीर्थंकर के उपदेश के अनुसार संयमी मुनि ज्ञान-क्रिया की आराधना करते हैं। उनकी आराधना जब परिपक्व होती है तो वे भी चार घातिक कर्मों का क्षय करने में समर्थ हो जाते हैं। कर्मक्षय होने पर उन्हें भी वही केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त होता है और वे भी केवली पद म विभूषित हो जाते हैं।

केवली हो जाने पर एक प्रकार से साधना परिपक्व हो जाती है। तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली के ज्ञान मे और उपदेश मे अन्तर नहीं होता। यद्यपि वे भी तीर्थंकर भगवान् के समवसरण मे विराजमान होते है, मगर वह एक प्रकार का व्यवहार ही समझना चाहिए। उन्हें कुछ जानने-सुनने की आवश्यकता

नहीं रहता। वे भगवान् हों या बने जाएं तो स्वयं धर्मोपदेश करते हैं जैसे गौतम स्वामी या जम्बू स्वामी ने किया।

वर्तमानकाल में हमारे यहाँ अर्थात् भरतक्षेत्र में अरिहन्त (केवली) नहीं हैं। धार्मिक क्षेत्र में अराजकता फैलने का मुख्य कारण यही है। यदि अरिहन्त होते तो ऐसी [illegible] न होने पाती।

अरिहन्त देव के अभाव का कारण कालचक्र का प्रभाव है। जैनधर्म के अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में सदैव प्रवर्तमान रहता है। उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के पश्चात् उत्सर्पिणी। प्रत्येक के छह-छह आरे होते हैं। इस समय अवसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा है। तीसरे चौथे आरे में धर्मतीर्थ के कर्ता तीर्थंकर जन्म लेते हैं।

कहा जा सकता है कि अन्य आरों में तीर्थंकर क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यही है कि निसर्ग के नियम निराले हैं। युवावस्था से पूर्व मानव के मूँछें नहीं आतीं। बालिका के स्तनों में दूध नहीं आता। श्रावण मास में गेहूँ नहीं पकते। इसी प्रकार तीसरे चौथे आरे के बिना तीर्थंकरों का जन्म नहीं होता।

केसर प्रायः कश्मीर में और कस्तूरी मृगदेह में ही पैदा होती है, इसी तरह अरिहन्त भी वहीं जन्म लेते हैं जहाँ कर्मभूमि होती है। कर्मभूमि अर्थात् वह भूमि जहाँ के निवासी कृषि आदि कलाओं का प्रयोग करके जीवन-निर्वाह करते हैं और श्रमशील होते हैं।

तीर्थंकरों की जन्मभूमि कर्मभूमि कहलाती है। वह भरत, ऐरवत और महाविदेह के नाम से प्रसिद्ध है। अखिल विश्व में मानव के आध्यात्मिक विकास के योग्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीप में पन्द्रह क्षेत्र हैं। उनमें भी महाविदेह सब से उत्तम है। इस जमाने को अरिहन्त के दर्शन दुर्लभ हैं परन्तु महाविदेह में अब भी बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। वे हमारी दशा को खूब जानते हैं।

अरिहन्त की आकृति हमारे जैसी होती है तथापि उनमें और हममें आसमान का अन्तर है। उनकी देह वज्रऋषभनाराचसंहननमय (बहुत मजबूत) होती है। उनके किसी अवयव में न्यूनता या अधिकता नहीं होती। उनका संस्थान समचतुरस्र (बराबर चौकोर) होता है। [illegible] असाधारण अनुपम होता है। हजारों लाखों जिह्वाएँ मिलकर भी उस सौन्दर्य का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

हमारे शरीर में मत्स्य यव या अन्य कोई एक शुभ लक्षण मिल जाय तो हम फूले नहीं समाते मगर तीर्थंकर भगवान् के शरीर में एक हजार और आठ प्रशस्त लक्षण होते है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर वर्तमान में सन्त-मुनिराज के नाम के पूर्व एक हजार आठ ऐसी उपाधि लगाई जाती है। वे चौतीस अतिशयों से सम्पन्न होते हैं। उनकी वाणी में पैंतीस विशेषताएं होती हैं।

अरिहन्त भगवान् के बारह गुण प्रसिद्ध हैं—(१) अनन्तज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्तसुख (४) अनन्तवीर्य (५) दिव्यध्वनि (६) भामण्डल (७) स्फटिकमय सिंहासन (८) अशोकवृक्ष (९) पुष्पवर्षा (१०) देवदुन्दुभि (११) छत्र और (१२) चामर।

अरिहन्त भगवान् ऐसी सुगम भाषा मे धर्मोपदेश करते हैं कि सभी श्रोता उसे अपनी ही भाषा जानकर हृदयंगम कर लेते हैं। उनके प्रवचन को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करके जगत् में प्रचारित करते हैं।

आज भारतवर्ष में अरिहन्त नहीं हैं फिर भी उन्हीं के प्रवचन आगमों के रूप में सुरक्षित हैं। यद्यपि वे प्रवचन अविकल रूप म हमारे समक्ष नहीं हैं, उनका बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है तथापि जो उपलब्ध है वही जीवन को सफल और सार्थक बनाने के लिए पर्याप्त है।

अरिहन्ते सरणं पवज्जामि।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

निरञ्जन निराकार देव

कहिं पडिहया सिद्धा कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ?
अलोगे पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥

पिछले परिच्छेद में अरिहन्त देव के विषय में कहा जा चुका है। उनके जीवन की चरम परिणति सिद्ध दशा की प्राप्ति में है। तब स्वतः प्रश्न उपस्थित होता है कि सिद्ध भगवान् का निवास कहाँ है ?

श्री औपपातिक सूत्र की उल्लिखित गाथाओं में इसी संबंध के प्रश्न और उत्तर हैं।

जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगतिशील है तो क्या सिद्ध जीव सतत ऊर्ध्वगति करते ही रहते हैं या कहीं रुकते हैं ? अगर रुकते हैं तो कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? कहाँ शरीर का त्याग करके कहाँ सिद्ध होते हैं ?

इन प्रश्नों का उत्तर यह दिया गया है—सिद्ध भगवान् अलोक में प्रतिहत हो लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ शरीर का सदा-सर्वदा के लिए त्याग कर वहाँ जाकर सिद्ध हो गये। अर्थात् सिद्ध होने वाले जीव वहाँ विराजमान हैं।

मिट्टी के अनेक लेपों से लिप्त तुम्बे को यदि जल में छोड़ दिया जाए तो वह नीचे जाता और डूबता है। किन्तु जब लेपमुक्त होता है तो ऊपर की ओर आता है और जहाँ तक जल का निमित्त मिलता है वहाँ तक ऊपर ही उठता रहता है। जब जल का निमित्त नहीं मिलता तब उसका ऊपर उठना बंद हो जाता है और वह जल की ऊपरी सतह पर ठहर जाता है। यही स्थिति मुक्त जीव की है।

चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम क्षण में शेष रहे चार अघातिक कर्मों का क्षय करके जीव अशरीर-अवस्था प्राप्त करता है। वह समस्त कर्मों के लेप से मुक्त होकर तूम्बे की तरह स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करता है। जीव और पुद्गलों के गमन में धर्मास्तिकाय निमित्त है। यह निमित्त जहाँ तक मिलता है वहाँ तक सिद्ध जीव की गति होती है। धर्मास्तिकाय लोक के अन्त तक ही है आगे अलोक में नहीं अतएव उनकी गति भी लोकान्त तक ही होती है, आगे नहीं। अतएव ऊपर बतलाया गया है कि सिद्ध जीव लोकाग्रभाग में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

सिद्ध अवस्था ही जीव की शुद्ध अवस्था है। इस अवस्था में जीव अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और असीम अनन्त आत्मिक वैभव का अधिकारी बनता है। कर्म ही संसार-जन्म-मरण की बुनियाद है। कर्म के छूटते ही संसार का अन्त हो जाता है।

सिद्ध और संसारी जीवों में महान् अन्तर है। संसारी जीव निरन्तर नाना प्रकार के दुःखों से आकुल हैं। आधि व्याधि और उपाधि से सताये हुए हैं। आवागमन के चक्र में पड़े हुए हैं। चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए विविध प्रकार के दुःखों के भाजन बन रहे हैं। उन्हें अनन्त आत्मिक सुख की कल्पना तक नहीं है। मगर सिद्ध भगवान् असीम अनन्त अक्षय सुख के सागर में निमग्न हैं। वह अव्याबाध सुख अनिर्वचनीय है अतर्क्य है और हमारी इन्द्रियों तथा मन से अगोचर है। उस सुख की तुलना में चक्रवर्ती और इन्द्र का सुख भी ऐसा ही है जैसे महासागर की तुलना में पानी का एक छोटा-सा कण! और शायद उतना भी नहीं।

सिद्ध जन्म जरा मरण शोक रोग संयोग वियोग भूख प्यास आदि की समस्त बाधाओं से अतीत है। शरीर से मुक्त हो जाने के कारण यह सब बाधाएं उन्हें स्पर्श नहीं करतीं।

सिद्धक्षेत्र में अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। वहाँ किसी प्रकार का स्वामी सेवक भाव नहीं है। न कोई ठाकुर, न कोई चाकर है। सब सच्चिदानन्दमय हैं। अमूर्तिक होने से कोई किसी की अवगाहना में बाधक नहीं। जहाँ एक सिद्ध की अवगाहना है वहीं अनन्त सिद्धों की अवगाहना है।

एक माँहि अनेक राजै।

इस प्रकार एक ही स्थान पर अवस्थित होने पर भी उनका अपना अपना स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

एक ही स्थान में अनेक सिद्ध किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए जैन साहित्य में एक उदाहरण प्रसिद्ध है। कल्पना कीजिए, एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश फैला हुआ है। यदि उसी कमरे में दूसरा दीपक जला दिया जाय तो उसका प्रकाश भी उसी प्रकाश में समा जाता है। इस प्रकार तीसरे, चौथे सौवें और हजारवें दीपक का प्रकाश भी उसी प्रकाश में समाविष्ट हो जाता है। इसी भाँति एक सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों में अनन्त सिद्धों के आत्मप्रदेशों का समावेश हो जाता है। प्रकाश चक्षुगोचर स्थूल पदार्थ है फिर भी प्रकाश में प्रकाश का समावेश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है तो सिद्ध तो अत्यन्त सूक्ष्म एवं अरूपी हैं। उनके समावेश में आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? एक कवि के स्वर में थोड़ा परिवर्तन करके कहा जा सकता है—

अविनाशी अविकार परम रस-धाम हैं
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हैं।
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध विशुद्ध अनन्त हैं
जगतशिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त हैं॥

आचार्य देव

पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायारपालणसमत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो छत्तीसगुणो गुरू मज्झ॥

आचार्य गच्छ के अधिपति होते हैं। पांच परमेष्ठियों में उनका तीसरा स्थान है।

वे पाँच महाव्रतों में, पाँच प्रकार के आचारों—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार—में, पाँच समितियों में तथा तीन गुप्तियों में सम्पन्न होते हैं। उनमें छत्तीस गुण पाये जाते हैं।

साधारण मनुष्य एक व्रत का पालन करने में भी हिचकिचाता है, तब पाँच महाव्रतधारी का क्या कहना है! ऐसे आदर्श महापुरुष स्वयं तिरते तथा औरों को तारते हैं।

आचार्य पर गच्छ की सुव्यवस्था का भार होता है। स्वयं आचार का पालन करना और दूसरों से पालन करवाना उनका दायित्व है। वे मुनियों के नायक, ज्ञान एवं चारित्र के विशिष्ट आराधक और अनुभवी संघनेता होते हैं। आचार्य का बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व अत्यन्त उच्चकोटि का होता है। लेखिनी द्वारा पूर्ण रूप से उसका चित्रण नहीं किया जा सकता। संघ की रूप रेखा इन्हीं की कुशाग्र बुद्धि से निर्मित होती है।

साधुजीवन में आचार को प्रधानता होती है। आचार्य भी आचारों के पालने और पलवाने में निरंतर निरत रहते हैं। अतएव पाँच आचारों को संक्षेप में समझ लें।

(१) ज्ञानाचार-प्रत्येक नूतन पाठ-ग्रंथारम्भ के पहले और अन्त में उपधान (तपस्या) करना, पढ़ाने वाले का नाम न छिपाना, ज्ञानदाता गुरु का हृदय से सेवा-भक्ति करना, जिस काल में जिस शास्त्र को पढ़ने की आज्ञा है उसमें वही

आशय यह है कि उक्त पाँच आचारों का आचार्य स्वयं पालन करते है और अपने शिष्यों से भी पालन करवाते है। यही है तिरने-तारने का चारु उपाय।

ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्याचार समाज राष्ट्र एवं जगत के लिए अतीव कल्याणकारी मार्ग है।

पाँच आचारो का पालन करना आचार्य और साधुओं का समान धर्म है मगर आचार्य का वैभव विशिष्ट होता है जिसे सम्पदा भी कहते हैं। सेठ अपनी सेठाई से शोभा पाते हैं उसी प्रकार आठ सम्पदाओं से आचार्य की शोभा है।

आचार्य 'चरणगुणधुवजोगजुत्ते' अर्थात् मूल गुणों एवं उत्तरगुणों में ध्रुवयोग से युक्त होते हैं। वे संयम संबंधी सभी क्रियाएं मन वचन काय की स्थिरता एवं दृढ़ता से करते हैं। उन्हें आचार्यपद का अभिमान स्पर्श नहीं कर पाता। अप्रतिबद्ध विहार करते हैं और अल्पवयस्क हों तो भी वयोवृद्ध के समान गंभीरतापूर्वक व्यवहार करते है।

आचार्य श्रुतज्ञान की अलौकिक सम्पत्ति से सम्पन्न होते है और शरीर सम्पदा भी उनकी विशिष्ट होती है। उनका प्रभावशाली और सुगठित शरीर तथा तेजस्वी मुखमण्डल ऐसा होता है कि दर्शक को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर ले।

उनकी वाणी में ओज और अमृत का माधुर्य होता है। श्रोताओं पर उसका गहरा असर पड़ता है।

उनकी वाचनाशक्ति भी निराली होती है। सूत्रों का अर्थ समझाते हैं तो ऐसी सुन्दर शैली से कि श्रोताओं के चित्त में एकदम पैठ जाय। शिष्य की ग्राहकशक्ति के अनुरूप ही प्रतिपादन करते हैं। गंभीर से गंभीर रहस्य को स्फुट करके शिष्यों के चित्त का समाधान कर देते हैं।

गंभीर अध्ययन और विशिष्ट मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आचार्य की बुद्धि प्रशस्त निर्मल होती है। उनकी एक बड़ी विशेषता यह होती है कि वे अवसर के ज्ञाता होते हैं। ठीक समय पर किया हुआ प्रयत्न प्रायः निष्फल नहीं जाता।

इसके अतिरिक्त उनकी संग्रहसम्पदा भी असाधारण होती है। अपनी निश्रा में विचरण करने वाले मुनियों के लिए आवश्यक और आरामानुकूल आहार, पानी तथा उपकरण आदि सामग्री जुटाना संग्रहसम्पदा है। आचार्य को इस ओर भी ध्यान रखना पड़ता है।

आचार्य संघ का आत्मा है प्राण है आधार है उसे सक्षम एवं निर्भीक होना चाहिए। युग के अनुसार उचित कार्य करते हुए भी मूल आधार पर अचल रहना चाहिए। संघ का परम कर्तव्य है कि वह आचार्य देव की आज्ञा का अनुसरण करे। इसी में संघ का हित है।

उपाध्याय देव

इङ अध्ययने धातु से उपाध्याय शब्द निष्पन्न हुआ है। उपाध्याय चौथे परमेष्ठी हैं और सूत्र का पठन-पाठन करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है।

शास्त्र का विधान है—

पढमं नाणं तओ दया।

ज्ञान के बिना चारित्र का प्रादुर्भाव नहीं होता। होता भी है तो वह आत्मा के बन्धनों को काटने में समर्थ न हो कर भवभ्रमण का ही कारण बनता है। ज्ञान के द्वारा ही दया-संयम-चारित्र के स्वरूप और प्रकार का परिज्ञान होता है। इसी हेतु से ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है और चारित्र को दूसरा।

संघ में पठन-पाठन के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का वहन करने वाले स्व-पर सिद्धान्त के ज्ञाता विविध शास्त्रों के वेत्ता शास्त्रार्थ में समर्थ महामुनि को उपाध्याय पद से विभूषित किया जाता है।

उपाध्याय लोकप्रचलित एवं शास्त्रप्रसिद्ध अनेक देशों की भाषा के जानकार, कार्यदक्ष मधुरभाषी सरलस्वभाव एवं सौभाग्यवान् संत होते हैं। उनके पच्चीस गुण कहे जाते हैं जिसमें अंग-उपांग सूत्रों का तथा चरण-करण का ज्ञान सम्मिलित है। विशिष्ट विद्वत्ता के कारण उन्हें संघ के शिक्षाविभाग के समस्त अधिकार दिये जाते हैं।

खेद है कि आज संघ में यह व्यवस्था सन्तोषजनक रूप में नहीं चल रही है।

उपाध्याय अपनी वाणी द्वारा प्रवचन की प्रभावना करते हैं। इतर जनों को जिनशासन की ओर आकर्षित करते हैं और आस्थावानों की आस्था दृढ़ करते हैं। प्रवचनप्रभावक आठ प्रकार के होते हैं—

१—प्रावचनिक—शास्त्रों को विशिष्ट रूप से हृदयंगम करने वाला।

२—धर्मकथी—सुन्दर शैली से धर्मकथा करने वाला।

३—वादी—वादविवाद में कुशल, चतुरंग सभा में अपने पक्ष की सिद्धि करके प्रतिवादी के अभिमान का विगलित करने वाला।

४—नैमित्तिक—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ को निमित्त द्वारा जान कर उसके द्वारा शासन का प्रभावविस्तार करने वाला।

५—तपस्वी—उग्र तपस्या करने वाला।

६—विद्याविज्ञ—प्रज्ञप्ति आदि विविध विद्याओं का ज्ञाता।

७—सिद्ध—अंजन, पादलेप आदि सिद्धियाँ प्राप्त करने वाला।

८—कवि—गद्य-पद्य आदि प्रबन्धों की रचना करके प्रभावित करने वाला।

तात्पर्य यह है कि उपाध्याय बहुश्रुत विद्वान् होते हैं। शास्त्र में बहुश्रुत को बहुत सम्मान दिया गया है। उसके महत्त्व को द्योतित करने के लिए सोलह उपमाएँ दी गई हैं।

जैसे शंख निर्मल होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत का अन्तःकरण निर्मल होता है। जैसे शंख में रक्खा हुआ क्षीर शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत साधु भी शोभा पाता है।

जैसे कम्बोज देश का जातिमान् अश्व सजा-सजाया शोभायमान होता है, उसी प्रकार श्रुतसम्पन्न मुनि भी शोभायमान होता है।

इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, वृषभ, सिंह, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा इन्द्र आदि की उपमाएँ प्रयुक्त करके शास्त्र में बहुश्रुत का महत्त्व स्थापित किया गया गया है।

उत्तराध्ययन अ० ११

विचारक बर्नार्ड शॉ ने कहा है—आज पढ़ना सब जानते हैं, पर क्या पढ़ना चाहिए, यह कोई नहीं जानता।

शिक्षा वह साधन है जिसके आगे तोप और तलवार जैसे संहारक साधन भी बेकार हो जाते हैं और बेकार साबित होते हैं। व्यक्ति, देश और समाज में शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा के बिना मनुष्य मनुष्यता में पशुओं के समान है। न वह अपनी शक्तियों का परिज्ञान करता है और न उनका सदुपयोग ही कर सकता है। शिक्षा के द्वारा ही मानव में विद्यमान शक्तियाँ प्रकट और

विकसित होती है। मगर वह शिक्षा व्यावहारिक के साथ आध्यात्मिक भी होनी चाहिए, धार्मिक भी होनी चाहिए। धर्मशिक्षाविहीन व्यावहारिक शिक्षा साक्षर तो अवश्य बना देती है परन्तु वे साक्षर राक्षस भी बन जाते हैं। शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए गुप्तजी ने कहा है —

> सब से प्रथम कर्त्तव्य है शिक्षा बढ़ाना देश में,
> शिक्षा बिना ही पड़ रहे हैं, आज हम सब क्लेश में।
> शिक्षा बिना कोई कभी बनता नहीं सत्पात्र है
> शिक्षा बिना कल्याण की आशा दुराशा मात्र है।।

परन्तु हमारे समाज में आज शिक्षा की ओर अव्यवस्था है। सन्तों और सतियों की उच्चशिक्षा एक ऐसी समस्या है जो हल नहीं हो रही है। श्रमणसंघ का निर्माण हुआ और उपाध्यायों की भी नियुक्ति हुई। किन्तु वह व्यवस्था कागजों में ही रह गई। आज भी वही परम्परा चल रही है जो पहले चल रही थी और किसी भी प्रकार से सन्तोषप्रद नहीं थी।

पण्डितों से अध्ययन करने की व्यवस्था भी ठीक नहीं बैठती। चार मास रहकर कहीं किसी पण्डित से अध्ययन कर भी लिया तो शेषकाल के आठ महीने उसे भुला देने के लिए पर्याप्त हैं। सदा साथ भ्रमण करने वाले पण्डित मिलते नहीं। मिलते भी हैं तो योग्य नहीं मिलते। योग्य भी मिल जाए तो भी यह व्यवस्था वांछनीय नहीं है।

ब्यावर आदि स्थानों में सिद्धान्तशालाओं की स्थापना हुई है और वहाँ कुछ सन्तों एवं सतियों ने अध्ययन किया भी है, मगर पढ़ने योग्य सभी सन्तों-सतियों का चिरकाल तक एक ही स्थान पर रहना हो नहीं सकता। होना भी नहीं चाहिए। कहा है—

> बहता पानी निर्मला पड़ा गंधिला होय।
> साधु तो रमता भला दोष न लागे कोय।

सन्तों की शिक्षा का सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता है कि योग्य सन्त आचार्य-उपाध्याय की सेवा में रहें और यथाविधि अध्ययन करें। मगर इस व्यवस्था में गुरु को शिष्य का अनुचित मोह और अविश्वास त्यागना होगा। इतना तो करना ही चाहिए। देश में शिक्षा का प्रसार हो रहा है और शिक्षितों की संख्या बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में यदि उपदेशकवर्ग-साधुसमाज-उच्च ज्ञान में

पिछड़ा रहा तो वह जनसमुदाय को किस प्रकार उपदेश करेगा? कैसे उनका पथप्रदर्शन करेगा? किस प्रकार प्रभावित कर सकेगा?

आशय यह है कि जब से हमारे संघ में उपाध्यायव्यवस्था भंग हुई है तभी से शिक्षा में कमी आई है। इस कमी को दूर करने का उपाय उपाध्याय व्यवस्था को पुनः विधिवत् लागू करना है।

आज हमें ऐसे उपाध्याय चाहिए जो साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप संघ में धर्मशिक्षा का उच्च स्तर पर प्रचार करें, सिद्धान्तों के विषय में उठने वाले प्रश्नों का आज की भाषा में निराकरण करें तथा संघ के मानदण्ड हों और जिनकी गंभीर विद्वत्ता के समक्ष विरोधी जन भी नतमस्तक हो जाएं।

भारतीय संस्कृति का प्रतीक : सन्त

'स्वपरकार्य साधयतीति साधु'। अपना और पराया कल्याण करना सन्त जनों का सहज स्वभाव है। सन्त के लक्षण (गुण) बतलाये जाते हैं—

पाँच महाव्रतों का पालन करने वाला पाँच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला क्रोधादि चार कषायों से मुक्त, तीन योगों का निग्रह करने वाला क्षमावान् सम एवं संवेग का धारक वेदना उत्पन्न होने पर समभाव रखने वाला तथा समाधि में विचरण करने वाला महापुरुष साधु कहलाता है।

जैन सन्त की दिनचर्या सर्वोपरि दिनचर्या है। वह अहिंसा की चलती फिरती साक्षात् प्रतिमा है। वह अपने साधनाक्षेत्र में धोरी वृषभ की भाँति साहस पूर्वक अग्रसर रहता है। कर्मरिपुदलदलन में असाधारण वीरता प्रदर्शित करता है।

सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण रूप से पालन करना उसकी साधना का अनिवार्य अंग है। कनक-कामिनी का त्यागी दया और करुणा का निरन्तर प्रवाहित होने वाला अक्षय स्रोत समभाव का मूर्तिमान् आदर्श परोपकारपरायण सब प्रकार की लौकिक कामनाओं से विरत और आत्मकल्याण के महामार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ने वाला आदर्श त्यागी जैन श्रमण होता है।

सन्त पुरुष का एक ही मुख्य ध्येय होता है—भव भ्रमण का अन्त करना। वह अपनी चर्या से और साथ ही देशना से भी जगत् के जीवों के अज्ञान-तिमिर का विनाश करता है। वह स्वयं प्रकाश के पथ में विचरण करता है और दूसरों को प्रकाश देता है।

संसार में रहता हुआ भी सन्त संसार से अलिप्त रह कर समरत्व की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है। उसके अन्तःकरण से प्राणी मात्र के प्रति करुणा सहानुभूति और संवेदना का निर्मल नीर बहता रहता है।

साधु जातिवाचक शब्द है। तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय अथवा छद्मस्थ आदि सभी महापुरुषों की सामान्य संज्ञा साधु ही है। सब साधु अपनी अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार आत्मिक संयम की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त रहते हैं।

साधुजीवन की विशिष्टता उसकी निस्पृहता में है। संसार के अन्य पदार्थों की बात तो दूर, साधु को अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता। वह आहार करता है अवश्य, मगर शरीर के ममत्व से प्रेरित होकर नहीं वरन् इसलिए कि शरीर साधना के लिए अनिवार्य है और वह आहार के बिना टिक नहीं सकता। कहा है—

अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं।

फिर भी आहार के लिए वह किसी प्राणी को कष्ट में नहीं डालता। अग्नि और पानी आदि के आरंभ-समारंभ से पूरी तरह विरत रहता है। निर्दोष एवं अनुद्दिष्ट आहार ही ग्रहण करता है।

सब प्रकार के अनाचीर्णों से मुक्त, दस प्रकार के मतिधर्मों से युक्त, विनय और विवेक में प्रवृत्त होता है।

सन्त का हृदय कुछ निराला ही होता है। कविवर कालीदास ने गोरावर पुरुष के स्वभाव का चित्रण करते हुए कहा है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

कवि की यह उक्ति सन्तहृदय पर आकर ही पूरा चरितार्थ होती है। जीवन की कसती घड़ियों में सन्तकालीन स्थिति आने पर सन्त पुरुष आकुल व्याकुल नहीं होते। उस समय उनका हृदय वज्र से भी कठोर होता है। मगर दूसरे प्राणियों के संकट के समय उनका हृदय पुष्प से भी अधिक कोमल हो जाता है।

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बना कर अग्नि के धधकते हुए अंगार रख दिये गए। उस समय मुनि का जीव जो शरीर का बसेरा त्याग दिया गया। क्या वे क्षण भर के लिए भी समभाव से विचलित हुए? और इस कष्ट से उनकी की हानि प्राप्त हुई? नहीं, उस समय उन्होंने अपने चित्त को वज्र से भी अधिक कठोर बनाया। दीर्घकालीन साधना के परिणामस्वरूप ही इस प्रकार की दृढ़ता सम्भव हो सकती है।

मर्यादापुरुष की पदवी से विभूषित राजर्षि राम ने शबरी के जूठे बेर खा लिये। भगवान् महावीर ने चन्दनबाला की आह भरी पुकार सुनी और उबाले हुए बाकले ग्रहण किये।

इस प्रकार का शुद्ध और सबल हृदय बनाने के लिए सत्य और सदाचार की आराधना करनी होती है।

जो स्वयं सुख में रहता है वही दूसरों को सुखी बनाने में समर्थ होगा। साधु आत्मानन्दी है। प्रत्येक परिस्थिति में सन्तोष का अनुभव करता है। दुनियाँ का दुःख उसे छूता नहीं। अप्रमत्त जीवन-यापन करता है। यही कारण है कि उससे किसी को दुःख नहीं पहुँचता। वह अभय है। उससे किसी को भय नहीं होता।

साधु की वाणी जैसे अमृतमय हो। उसमें अपूर्व माधुर्य अनुपम करुणा असाधारण परोपकारभाव निहित होता है। कहावत है—'जैसा खावे पानी वैसी बोले बानी।' साधु का खान-पान पवित्र और सात्विक होता है अतः उसकी वाणी भी पवित्र और सात्विक होती है। वह पीड़ितों को सान्त्वना देने वाली रोदन करने वालों को हंसाने वाली पथभ्रष्टों को सत्पथ प्रदर्शित करने वाली और कल्याणकामियों का कल्याण करने वाली होती है। साधु का एक ही अनमोल वचन दानव को देव बनाने का सामर्थ्य रखता है। किसी ने कहा है—

साधु सब्दो परखिए, बिपति पड़े घर-नार।
शूरा तब ही जानिए, रण बाजे तलवार॥

साधु की बोली मधुर होने के साथ कल्याणकर और निरवद्य होती है। वह स्याद्वाद से संगत होती है। भगवान् महावीर के अनुयायी श्वे. साधुजन मुख पर सदा मुखवस्त्रिका रखते हैं वह इसलिए भी कि भाषा सावद्य न होने पावे।

अवद्य का अर्थ है पाप। जो पापसहित है वह सावद्य और पापरहित है वह निष्पाप है।

साधु अवद्य मात्र से निवृत्त और निरवद्य अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति यद्यपि परस्पर विरुद्ध-सी जान पड़ती है किन्तु वियमभेव से उनमें कोई विरोध नहीं है। असत् से निवृत्ति और सत् में प्रवृत्ति होना विरुद्ध नहीं है। यही नहीं बल्कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथोचित समन्वय के आधार पर वह ऊर्ध्वगतिशील होता है। पारमय सांसारिक कर्मों से निवृत्ति और संयम

तत्र प्राप्ति आत्मकल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्ति होने से ही साधुजीवन सार्थक बनता है। जीवन में अकेली प्रवृत्ति या एकान्त निवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं।

शुद्ध शास्त्रीय विधान के अनुसार साधुचर्या तलवार की धार पर गमन करना है। इतनी कठिन चर्या उसके लिए क्यों प्रतिपादन की गई है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसका साध्य बहुत ऊँचा है। उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करनी है। आत्मविजय कुछ सामान्य नहीं है। वह उच्चकोटि की चर्या और साधना के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है? यहाँ विलास और स्वच्छन्दता के लिए कोई स्थान नहीं है।

यह जगत् काजल की कोठरी है। इसमें रहते हुए भी कालिख की रेखा न लगने देने के लिए अत्यन्त सतर्कता चाहिए। साधु को अपने साधनाजीवन में ऐसी ही सावधानी बरतनी पड़ती है।

नमस्कारमंत्र में यद्यपि साधुपद पाँचवाँ और अन्तिम है तथापि प्रारम्भ यहीं से होता है। साधु बनने के पश्चात् ही उपाध्याय, आचार्य, अरिहन्त या सिद्ध पद प्राप्त होता है।

आगम विधि से जो महापुरुष पूर्ण रूप से अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की परिपालना करते हैं, समितियों और गुप्तियों से सम्पन्न होते हैं वही साधु हैं। वह धारणीय, नमस्करणीय, स्मरणीय, वन्दनीय और पूजनीय हैं।

विलासी संसार के सम्मुख सदाचार का जीता जागता प्रतीक साधु है।

चारित्रगरिमा

'चर्यते ग्रासव्यते मुमुक्षुभि' इति चारित्रम् अर्थात् मुमुक्षुओं के द्वारा जिसका ग्राचरण-सेवन किया जाता है तथा च जिसके द्वारा अव्रत से निवृत्ति होकर व्रतों में प्रवृत्ति होती है वह चारित्र है।

सीधी-साधी भाषा मे पुनीत ग्राचरण को चारित्र कहते है। शास्त्रीय भाषा में चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला विरतिपरिणाम चारित्र कहलाता है।

भोग-विलास सैर-सपाटे नाच-गान ग्रादि कर्मबंध जनक क्रियाओं स बचकर सामायिक (समभाव) में रमण करना मानव का पावन चारित्र कहा गया है।

चारित्र स ग्रभिनव कर्मो का ग्रास्रवनिरोध होता है। 'चरित्तेण निगिण्हाइ'।

सम्पूर्ण चारित्र का पालन मनुष्य ही कर सकता है। जीवन-वैभव का विकास ग्रौर शुद्धीकरण करने का सामर्थ्य मनुष्य के सिवाय ग्रन्य किसी प्राणी में नही है। ग्रतएव चारित्र संबंधी जो प्रवृत्तियाँ ग्रौर शिक्षाएं हैं वे मुख्यरूपेण मनुष्य के लिए हैं।

रत्नत्रय में चारित्र का नंबर ग्रन्त में है क्योंकि सर्वप्रथम श्रद्धा शुद्ध होनी चाहिए। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्' इस उक्ति के ग्रनुसार श्रद्धावान् को ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है ग्रौर श्रद्धा तथा ज्ञान के बल से चारित्रगुण की प्राप्ति होती है। जब इन तीनों की पूर्णता होती है तब जीव निरंजन निराकार बन कर समस्त सांसारिक व्यापारों से विनिर्मुक्त हो जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र है क्योंकि दर्शन ग्रौर ज्ञान की परिपूर्णता होने पर भी चारित्र के ग्रभाव मे मोक्ष नही प्राप्त होता परन्तु चारित्र मे पूर्णता होते ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

साधक ने प्रश्न किया—चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चरित्तसंपन्नयाए सेलेसीभावं जणयइ । सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।

यहाँ पूछा गया है—प्रभो ! चारित्रसम्पन्नता से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? प्रभु ने उत्तर दिया है—चारित्रसम्पन्नता से जीव को शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है । शैलेशी अवस्था को प्राप्त महामुनि चार अघातिक कर्मों को क्षय करता है । तत्पश्चात् सिद्ध बुद्ध होता है परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सर्व दुःखों का अन्त करता है ।

जीवन में चारित्र का मूल्य असाधारण है । एक कवि यथार्थ कहता है—

> धन-धान्य गयो कछु नाहिं गयो
> आरोग्य गया कछु खोय गया ।
> चारित्र गया सर्वस्व गयो
> जग जन्म अकारथ जीव लिया ।

चारित्र की तुलना में धन-धान्य आदि भौतिक पदार्थों का किंचित् भी मूल्य नहीं है । आकस्मिक व्यापार करते धन की हानि हो जाय तो उसकी चिन्ता नहीं क्योंकि धन फिर भी आ सकता है । कदाचित् न आवे तो उससे जीवन विकास में कोई बाधा नहीं उपस्थित होगी । यथार्थ यह है कि प्राय धन [illegible] धन जीवन बीज का खात्मा कर देता है ।

अगर स्वास्थ्य जाता है तो समझना चाहिए कि कुछ हानि हुई है किन्तु यदि चारित्र नष्ट हुआ तो सर्वस्व नष्ट हुआ समझना चाहिए । जो वासनाओं से अन्धा विकारों का दास और वेश्याओं का बन्दा होकर अपने चरित्र को खो देता है वह अपने बहुमूल्य जीवन को ही अकारथ कर देता है । किसी ने कहा है—

> का न हन्ति विमल
> कुशील का न [illegible]

धन से विलासी चरित्र-भ्रष्ट होने पर किस धनिमान की कमी न आता ? और कुशल करने के बजाय दुःख नहीं होता ? अगर आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर करने वाला कोई विरला ही होता है ।

चारित्र को विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार से विभाजित किया गया है। अधिकारिभेद से उसके दो भेद हैं–(१) देशविरति चारित्र (२) और सर्वविरति चारित्र। विशुद्धि की न्यूनाधिकता से पांच भेद किये गये हैं–(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय और (५) यथाख्यात। विस्तार से बचने के लिए यहां केवल सामायिक की ही व्याख्या की जाएगी।

श्रावक का आचार देशविरति सामायिक है और साधु का आचार महाव्रतादि सर्वविरति सामायिक है। सामायिक का अभिप्राय है—राग-द्वेषादि विकारमय भावों से पृथक होकर समभाव में रमण करना।

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं अप्पाणं भए ण दंसए॥

—सूत्रकृतांग अ २ उ० २

जो मुनि अपनी आत्मा को ज्ञानादि के समीप पहुंचा चुका है जो षट्काय के प्राणियों का रक्षक है जो निर्दोष स्थान में निवास करता है और जो उपसर्गों तथा परिषहों से भयभीत नहीं होता-निर्भयतापूर्वक समस्त कष्टों को सहन करता है वही मुनि सामायिक को प्राप्त कर सकता है।

वस्तुतः सामायिक-समभाव जीवन का कवच है। कवच वह है जिसको धारण कर लेने पर शत्रु के शस्त्रों के आघात से बचाव हो जाता है। कवचधारी योद्धा निर्भय होकर संग्रामभूमि में शत्रु से लोहा लेता है। जीवन में समभाव जितना अधिक विकसित होगा साधक उतना ही संसार के आघातों से निर्भय रहेगा।

चारित्र की भावना बाहर के अनुशासन से नहीं होती। जड़ के जोर से चारित्र नहीं पलवाया जा सकता। उसका पालन करने के लिए आन्तरिक रुचि चाहिए। आत्मकल्याण की गहरी भावना होने पर ही संयम की सच्ची भावना हो सकती है। आन्तरिक भावना के अभाव में संयम कभी भी नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है।

अरणक मुनि एक युवती के प्रेमजाल में फंस गया। उसके चित्त में संयम संबंधी अरुचि जागृत हो गई। किन्तु उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उसे एक दिन तप्त शलाका पर सोना पड़ा और उसके जीवन का अन्त अतीव दयनीय दशा में हुआ।

संयम में स्थिर किया। जब मेघ मुनि ने वस्तुस्वरूप समझा तो अपना शरीर ही मस्तों की सेवा के लिए अर्पित कर दिया।

पड़तो थो जिम टापरो थीथी थूण लगाय।
तिम मेघ संयम थी डिग्यो दीधी वीर सहाय।

बोय नेणा की करसी मार,
और शीस मार्वा मे स्यार।

चारित्र के प्रति जिसके हृदय में सच्चा प्रेम है वह स्वयं तो पालन करेगा ही दूसरों के चारित्रपालन में भी सहायक बनेगा। चारित्र का पालन करके अनन्त जीव मोक्ष में पहुँचे हैं। अतएव सोते जागते उठते बैठते बोलते-निरन्तर सतर्क रहना और यतना करना चाहिए।

चारित्तं खलु धम्मो।

चारित्रधर्म और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसका दायरा बहुत विशाल है। उसमें जीवन के विविध क्षेत्रों में की जाने वाली समस्त सुसंगत प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। मगर नीति से यहाँ हमारा अभिप्राय व्यावहारिक जीवन संबंधी नियमों से है। धार्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्र का सदाचार यहाँ 'चारित्रधर्म' शब्द से अभिहित है।

वैदिकधर्म की आश्रम व्यवस्था के अनुसार गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रवेश किया जाता है। जैनधर्म इस क्रम को अनिवार्य नहीं मानता। तथापि आम तौर पर होता ऐसा ही है यद्यपि इसके अपवाद भी होते हैं। सारांश यह है कि मनुष्य गृहस्थजीवन के बाद ही चारित्र धर्म-अनगारवृत्ति को अंगीकार करता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अनगारजीवन में गृहस्थावस्था के संचित संस्कार काम करते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि मनुष्य की गृहस्थजीवन की व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ भी सुसंगत-नीतियुक्त होनी चाहिए। जिसका व्यावहारिक जीवन अनीतिमय है उससे बाद में उत्कृष्ट चारित्र धर्म के पालन करने की आशा करना दुराशा है।

चारित्रधर्म यदि भव्य भवन है तो नीति उसकी नींव है। नींव सुदृढ़ होने पर ही भवन सुदृढ़ बन सकता है।

जीवन के दो पहलू हैं—व्यावहारिक और धार्मिक। इसीलिए भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। गृहस्थजीवन में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है किन्तु धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ से सर्वथा विमुख होकर रहना किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं है। अतएव अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की उपासना करने में नीति का पालन होना चाहिए और धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की साधना के लिए चारित्र की उपासना करना चाहिए। इस प्रकार जिस व्यक्ति का जीवन नीति और चारित्र का समन्वय करके चलेगा उसी का जीवन सर्वांगसम्पूर्ण बन सकता।

जीवन में यदि नीति और चारित्र (धर्म) का समन्वय नहीं होता तो उसमें विफलता, असंगति और उच्छृंखलता आ जाती है। आज ऐसे लोग कम नहीं हैं जो थोड़ी देर धर्मस्थानकों में जाकर धर्म की उपासना करते हैं और बाजार में जाकर अनैतिक व्यवहार करते हैं। उस समय वे नीति एवं धर्म को भूल ही जाते हैं। वे समझते हैं मकान, दुकान और न्यायालय में धर्म नीति के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह सिर्फ धर्मस्थान में ही करने की चीज है।

जैसे नींव के अभाव में भवन टिक नहीं सकता उसी प्रकार नीति के बिना धर्म नहीं टिक सकता। नैतिकता के अभाव में धर्म के नाम पर की जाने वाली क्रियाएँ प्रदर्शन मात्र होती हैं। उनसे धर्म का उपहास होता है। लोगों को धर्म के प्रति अविश्वास होता है।

नीति के नियमों का पूरी तरह निर्वाह करने वाला ही चारित्रधर्म की सम्यक्भाँति आराधना कर सकता है।

जीवन को सही राह पर लाने के लिए शास्त्रकारों ने और नीतिकारों ने जो विधान किये हैं उनमें परस्पर समन्वय है। सत्य को प्रकट करने में सब की एक आवाज रहती है। दो और दो चार ही होते हैं। चाहे अनन्त ज्ञानी महात्मा हो चाहे मेरे जैसा अत्यन्त अल्पज्ञ कोई तीन नहीं कहेगा। अतएव जीवन में नीति और चारित्रधर्म का समन्वय करके ही चलना चाहिए, जीवन का सही विकास अन्यथा हो नहीं सकता।

महाव्रत

महाव्रत मुनिजीवन के मूल आधार हैं। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् मूल ही नहीं तो शाखा-प्रशाखाओं का अस्तित्व कैसे टिक सकता है। वास्तव में मुनिचर्या महाव्रतों पर ही निर्भर है। समितियाँ, गुप्तियाँ तथा विविध प्रकार की तपस्याओं आदि का विधान महाव्रतों के विशुद्ध पालन के लिए ही है।

पाँच महाव्रतों में भी सर्वप्रथम अहिंसा की गणना की गई है। यथा—

(१) सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं
(२) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं
(३) सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं
(४) सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं
(५) सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

सर्वथा प्रकार से प्राणी मात्र (प्राण भूत जीव सत्त्व) की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। त्रस अथवा स्थावर जीव की मन वचन काय से स्वयं हिंसा न करे, किसी अपर व्यक्ति द्वारा हिंसा न करवावे तथा इस मानवजीवन के लिए, सत्कार-सम्मान के लिए, रोगादि का निवारण करने के लिए, जाइमरण मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउ (जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए या दुःख का प्रतीकार करने के लिए) जो नामधारी साधु या गृहस्थ हिंसा करते हैं उनका अनुमोदन न करे। इस प्रकार पूर्ण रूप से हिंसा का परित्याग करना प्रथम महाव्रत है।

इसी प्रकार मन वचन या काय से मृषा भाषण न करना, न करवाना और न करने वाले का अनुमोदन करना सत्यमहाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण रूप से सत्य की आराधना करने के लिए वाणी पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना पड़ता है। मौन साधना सर्वोत्तम है। यदि सम्भव न हो तो हित मित और सत्य वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

इसी प्रकार अदत्तादान का त्याग किया जाता है। सन्त जन दांत कुचराने का तिनका भी अदत्त ग्रहण नहीं करते।

मन वचन काय तथा कृत कारित और अनुमोदना से अब्रह्म का सेवन न करना चौथा महाव्रत है।

पाँचवें परिग्रहत्याग महाव्रत में सचित्त अचित्त एवं मिश्र परिग्रह का मन वचन काय से तथा तीनों करणों से परिहार किया जाता है। मुनि पूर्ण रूप से अकिंचन होता है।

शास्त्रीय शब्दों में महाव्रतों का नवकोटि प्रत्याख्यान भी कहते हैं। तीन करण मन के तीन वचन के और तीन काय के, इस प्रकार नौ कोटियाँ हैं।

शास्त्र में पाठ आता है—'पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ। अर्थात् भाव से पंचमहाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करता है।

इससे स्पष्ट है कि साधु का वेष धारण करके बाह्य क्रियाकाण्ड करने पर भी भावसंयम के अभाव में सच्चा साधुत्व नहीं आता। अतएव पाँच महाव्रत भावमूलक होने चाहिए। मूल्य भाव का है द्रव्य का नहीं। यदि भाव पवित्र है तो किसी भी वेषभूषा से परिवेष्टित मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। अलबत्ता वेष की भी एक सीमा तक उपयोगिता है।

'गुणा' पूजास्थान न च लिंग न च वयः'

गुण पूजनीय होते हैं न वेष पूजनीय है न वय पूजनीय है। महाव्रत सर्वोत्कृष्ट गुणों के स्थान हैं। इसी कारण सुरेन्द्र और नरेन्द्र भी सन्त के चरणों में नतमस्तक होकर अपने को धन्य मानते हैं और उनकी शरण ग्रहण करते हैं।

जब प्रकार पाण्डित्य के धनी विद्वान्, न्यायाधीश जागीरदार, शासन के सूत्रधार, श्रीमन्त सेठ-साहूकार आदि प्रतिष्ठित जन सविनय वन्दन करते हैं तब उनकी नम्रता सरलता श्रद्धा भक्ति और भावुकता देखकर मैं प्रायः गहरे विचार में डूब जाता हूँ। मैं यह सोचता हूँ कि वेष की आकृति इनकी और मेरी समान है। अपने स्थान पर ये भी बड़े और सम्माननीय हैं। अनेक सभ्य लोग इनके सामने भी झुकते हैं। और ये हमारे सामने झुक रहे हैं। ऐसी स्थिति में अवश्य हमारे जीवन में असाधारण विशेषता विशुद्धता और उच्चता होनी चाहिए।

कोई आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। कोई बड़ी पूंजी होनी चाहिए और वह पूंजी महाव्रतों को ही हो सकती है।

महाव्रतों का पालन करना साधारण बात नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं। यह असिधाराव्रत है। दांतों से लोहमय जव चबाना है। मगर वीर पुरुष के लिए संसार में असंभव क्या है? भोगी कामी वासनाओं के दास महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते, किन्तु जिसने अपने मानस को साध लिया है जो विषय-वासना पर विजय प्राप्त कर चुका है उसके लिए महाव्रत स्वाभाविक एवं सहज साधना बन जाते हैं।

आचारांग उत्तराध्ययन दशवैकालिक आदि शास्त्रों में साधुजीवन की चर्या का विस्तारपूर्वक कथन उपलब्ध है। आज के साधुजीवन को आगम की कसौटी पर परखते हैं तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि उसमें पूर्वापेक्षया भारी अन्तर पड़ गया है। आज हमारी कथनी और करनी में भेद हो गया है। इसके अनेक कारण हैं। काल का प्रभाव भी एक कारण है। शारीरिक एवं मानसिक बल का ह्रास भी कारण है। फिर भी मैं साम्य करता हूँ कि चाहे दुनियां हमें कैसा भी समझे, हमारी कथनी और करनी एक समान रहे।

सहस्रों वर्ष पूर्व जो मुनि हो चुके हैं आज उनकी बराबरी होना कठिन है। उनके बराबर होने का दम हमें नहीं भरना है। उन्हें अपना आदर्श मानकर हम नम्रतापूर्वक अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करते हैं। किन्तु हम बहाने अनाचार का पोषण नहीं किया जाना चाहिए। साधुता के मूलाधार पांच महाव्रत तो सुरक्षित रहने ही चाहिए। उत्तर गुणों में—समिति-गुप्ति आदि में प्रमादवश अथवा रागादिजनित दुर्बलता के कारण दोष लग जाय तो क्षम्य हो सकता है। किन्तु उस दोष को दोष माना जाय और उसके लिए आगमविहित प्रायश्चित्त किया जाय और उस भूमिका का स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाय।

जो महाव्रतों का पालन करने में असमर्थ है उसे मुनि का वेश धारण नहीं करना चाहिए और न मुनि बनने का दंभ करना चाहिए। उसके लिए साधना का दूसरा मार्ग खुला है। साधु कहला कर साधु के धर्मों का पालन न करना अपनी आत्मा को गिराना है और एक पवित्र संस्था को कलंकित करना है। पंच महाव्रत साधना की कोटि में प्रवेश अनिवार्य शर्त है।

महाव्रतों के स्वरूप का सम्यक्दर्शन समझ कर, अपने सामर्थ्य का तोल कर और संकल्प को प्रबल बना कर साधुता के सौन्दर्य पर चलना ही प्रामाणिकता

इसी प्रकार अदत्तादान का त्याग किया जाता है। सन्त जन दांत कुचराने का तिनका भी अदत्त ग्रहण नहीं करते।

मन वचन काय तथा कृत कारित और अनुमोदना से अब्रह्म का सेवन न करना चौथा महाव्रत है।

पाँचवें परिग्रहत्याग महाव्रत में सचित्त अचित्त एवं मिश्र परिग्रह का मन वचन काय से तथा तीनों करणों से परिहार किया जाता है। मुनि पूर्ण रूप से अकिंचन होता है।

शास्त्रीय शब्दों में महाव्रतों का नवकोटि प्रत्याख्यान भी कहते हैं। तीन करण मन के तीन वचन के और तीन काय के इस प्रकार नौ कोटियाँ हैं।

शास्त्र में पाठ आता है—'पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ। अर्थात् भाव से पंचमहाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करता है।

इससे स्पष्ट है कि साधु का वेष धारण करके बाह्य क्रियाकाण्ड करने पर भी भावसंयम के अभाव में सच्चा साधुत्व नहीं आता। अतएव पाँच महाव्रत भावमूलक होने चाहिए। मुख्य भाव का है द्रव्य का नहीं। यदि भाव पवित्र है तो किसी भी वेषभूषा से परिवेष्ठित मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। अलबत्ता वेष की भी एक सीमा तक उपयोगिता है।

'गुणा पूजास्थानं न च लिंग न वयः'।

गुण पूजनीय होते हैं न वेष पूजनीय है न वय पूजनीय है। महाव्रत सर्वोत्कृष्ट गुणों के स्थान हैं। इसी कारण सुरेन्द्र और नरेन्द्र भी सन्त के चरणों में नतमस्तक होकर अपने को धन्य मानते हैं और उनकी शरण ग्रहण करते हैं।

जब प्रखर पाण्डित्य के धनी विद्वान्, न्यायाधीश जागीरदार, शासन के सूत्रधार, श्रीमन्त सेठ-साहूकार आदि प्रतिष्ठित जन सविनय वन्दन करते हैं तब उनकी नम्रता सरसता श्रद्धा भक्ति और भावुकता देखकर मैं प्रायः गहरे विचार में डूब जाता हूँ। मैं यह सोचता हूँ कि देह की आकृति इनकी और मेरी समान है। अपने स्थान पर ये भी बड़े और सम्माननीय हैं। अनेक सभ्य भाग इनके सामने भी झुकते हैं। और ये हमारे सामने झुक रहे हैं। ऐसी स्थिति में अवश्य हमारे जीवन में असाधारण विशेषता विशुद्धता और उज्ज्वलता होनी चाहिए।

व्रत

नीति के राजमार्ग पर चलना है, जीवन धन की रक्षा करनी है, आत्म धर्म की साधना करनी है और इह-परलोक को सुखमय बनाना है तो श्रावकव्रत या साधुव्रत में आना होगा। मानवजीवन का सार प्राप्त करने के लिए व्रत को अंगीकार करना अनिवार्य है। व्रत एक ऐसा साधन है जिसके बिना जीवन मर्यादित नहीं हो सकता।

आर्यसंस्कृति में व्रत को बहुत महत्त्व दिया गया है। भारतीय साहित्य व्रतविषयक आख्यानों से भरा पड़ा है। महाराजा हरिश्चन्द्र ने सत्यव्रत पर बल दिया। भीष्म पितामह ने ब्रह्मचर्यव्रत पर विजय प्राप्त की।

जैनसाहित्य तो व्रतप्रधान ही है। उसमें व्रतों का विशद विवेचन किया गया है। व्रत अधिकारिभेद से दो प्रकार के हैं—श्रावकव्रत और साधुव्रत।

श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) परिग्रहपरिमाण (६) दिग्व्रत (७) देशव्रत (८) अनर्थदण्ड विरमण (९) सामायिक (१०) पौषधोपवास (११) भोगोपभोगपरिमाण (१२) अतिथिसंविभाग।

इन बारह व्रतों में से आरम्भ के पाँच व्रत साधु के लिए भी हैं पर वे महाव्रत कहलाते हैं जब कि श्रावक के व्रत अणुव्रत हैं। उनके पालन की मर्यादा में भी अन्तर है। साधु तीन करण और तीन योग से व्रतों का पालन करता है। उदाहरणार्थ—साधु अहिंसा महाव्रत का पालन मन से, वचन से और काय से तथा हिंसा स्वयं न करना, दूसरों से न करवाना और करने वाले का अनुमोदन न करना, इन तीन करणों से पालन करता है परन्तु श्रावक के लिए इतना प्रतिबन्ध नहीं है। गृहस्थावस्था में इस प्रकार अहिंसा का पालन शक्य नहीं है। वह एक देश मर्यादित अहिंसा का ही पालन करता है। वह त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का दो करण तीन योग से ही त्याग करता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों की मर्यादा में भी अन्तर आ जाता है।

है। तत्पश्चात् महाव्रतों की इन महामूल्य मणियों को सदा के लिए धारण करना चाहिए। यही इह-परलोक में कल्याणकार है।

प्रत्येक प्राणी अपनी प्रिय वस्तु को हर प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। पक्षी अण्डे की रक्षा के लिए घोंसला बनाता है, किसान खेत के चारों ओर बाड़ लगाता है, मनुष्य अंगरक्षा के लिए अंगरखी, पग की रक्षा के लिए पगरखी पहनते हैं। धन की रक्षा के लिए तिजोरियों की व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार श्रमण को अपने महाव्रतों की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिए।

महाव्रतों के प्रभाव से ही सन्त जन तिरते और दूसरों को तारते हैं। जहाँ यह व्रत है वहीं सुमार्ग है, वहीं धर्म है, वहीं स्थायी सुख है, वहीं मोक्ष का उपाय है। यही मुनि की महानिधि है, सर्वस्व है, जीवन है, प्राण है।

व्रत

नीति के राजमार्ग पर चलना है, जीवन-धन की रक्षा करनी है, आत्म संयम् की साधना करनी है और इह-परलोक को सुखमय बनाना है तो श्रावकव्रत या साधुव्रत में आना होगा। मानवजीवन का सार प्राप्त करने के लिए व्रत को अंगीकार करना अनिवार्य है। व्रत एक ऐसा साधन है जिसके बिना जीवन मर्यादित नहीं हो सकता।

आर्यसंस्कृति में व्रत को बहुत महत्त्व दिया गया है। भारतीय साहित्य व्रतविषयक आख्यानों से भरा पड़ा है। महाराजा हरिश्चन्द्र ने सत्यव्रत पर बल दिया। भीष्म पितामह ने ब्रह्मचर्यव्रत पर विजय प्राप्त की।

जैनसाहित्य तो व्रतप्रधान है ही। उसमें व्रतों का विशद विवेचन किया गया है। व्रत अधिकारिभेद से दो प्रकार के हैं—श्रावकव्रत और साधुव्रत।

श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) परिग्रहपरिमाण (६) दिशाव्रत (७) देशव्रत (८) अनर्थदण्ड विरमण (९) सामायिक (१०) पौषधोपवास (११) भोगोपभोगपरिमाण (१२) अतिथिसंविभाग।

इन बारह व्रतों में से प्रारम्भ के पाँच व्रत साधु के लिए भी हैं पर वे महाव्रत कहलाते हैं जब कि श्रावक के व्रत अणुव्रत हैं। इनके पालन की मर्यादा में भी अन्तर है। साधु तीन करण और तीन योग से व्रतों का पालन करता है, उदाहरणार्थ—साधु अहिंसा महाव्रत का पालन मन से, वचन से और काय से तथा हिंसा स्वयं न करना, दूसरों से न करवाना और करने वाले का अनुमोदन न करना इन तीन करणों से पालन करता है परन्तु श्रावक के लिए इतना प्रतिबन्ध नहीं है। गृहस्थावस्था में इस प्रकार अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है। वह तो मर्यादित अहिंसा का ही पालन करता है। वह त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का दो करण तीन योग से ही त्याग करता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों की मर्यादा में भी अन्तर रहता है।

इस प्रकार साधु और गृहस्थ दोनों की परिस्थितियों के अनुक्रम व्रतविधान करके जैनधर्म ने अपनी विशालता का परिचय दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि व्रती बनने के लिए गृहत्याग अनिवार्य नहीं है। मनुष्य भले गृहस्थ होकर रहे मगर अपनी मर्यादा के अनुकूल व्रतों के पालन में सचेष्ट रहे तो वह भी व्रती कहलाता है। उसने अपना लक्ष्य स्थिर कर लिया है। वह लक्ष्य की ओर प्रस्थान कर चुका है, कुछ मार्ग तय भी कर चुका है। यद्यपि उसकी गति धीमी है, मगर विपथ पर नहीं है। अतएव विलम्ब हो सकता है किन्तु सिद्धिप्राप्ति निश्चित है।

अहिंसा आदि पांच महाव्रत अथवा बारह श्रावकव्रत कल्याण के मूल साधन हैं। वह मानव मात्र के लिए उपयोगी हैं।

कुछ लोग व्रतों के नाम से भड़कते हैं। कहते हैं—सदाचार का पालन करना उचित है मगर व्रत के बन्धन में फँसने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य का जीवन बन्धनमुक्त रहना चाहिए।

वे भूलते हैं। जीवन में कदाचित् ऐसे क्षण भी आते हैं जब मनुष्य दुर्बलता का शिकार हो जाता है और उसके संकल्प डगमगाने लगते हैं। उस समय की हुई प्रतिज्ञा उसका कवच बन कर रक्षण करती है। अतएव जीवन को उच्छृंखल न बनने देने के लिए व्रतों का अंकुश सर्वथा उचित है। स्वेच्छा से स्वीकृत व्रत बन्धन नहीं बन्धन से छुड़ाने वाला है।

व्रत को अंगीकार करने के पश्चात् उसके अतिचारों से बचना आवश्यक है। अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार, यह व्रतों के दोष हैं। इन्हें भलीभांति समझ कर त्यागना चाहिए और प्रीतिपूर्वक व्रतों का आराधन करना चाहिए।

श्रावक के गुण

निग्रन्थप्रवचन में श्रावक श्रमणोपासक कहलाता है। श्रमण का उपासक श्रमणोपासक है। साधु और साध्वी की भाँति श्रावक और श्राविका को भी तीर्थंकर भगवान् के संघ में स्थान दिया गया है। तभी चतुर्विध संघ बनता है।

जैनसंघ में श्रावक का दर्जा सामान्य नहीं। जो उत्तम प्रकार की पदवियों में आठवीं श्रावक की पदवी है।

पिता जैसे प्रीतिपूर्वक पुत्र की सेवा करता है उसी प्रकार साधु की सेवा करने के कारण श्रावक को भगवान् महावीर ने अम्मापिउसमाणे अर्थात् माता पिता के समान कहा है। भाई के समान और मित्र के समान भी कहा है क्योंकि वह साधु के संयम पालन में सहायक होता है। सुने हुए उपदेश को ज्यों का त्यों स्मृति में रखने के कारण दर्पण के समान भी कहा है।

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना कुण्डे कुण्डे नवं पयः।

जैसे सब कूपों का पानी सरीखा नहीं होता उसी प्रकार प्रत्येक खोपड़ी में अलग-अलग विचार होते हैं।

श्रावक भी सब समान नहीं होते। कई मिर्जापुरी लोटे के समान भी होते हैं जो ऊपर का आडम्बर देखकर इधर-उधर लुढ़क जाते हैं। ऐसे श्रावक पताका के समान कहे गये हैं। जो स्वयं हल्के या अल्पज्ञ होते हैं वे यदि किसी उदारहृदय दातार को या शासक श्रावक को गुणभक्ति देख ईर्ष्या करते हैं या उन्हें सौत की उपमा दी गई है।

सच्चे श्रावक का धर्म परम धर्मप्रिय होता है और उसके प्रत्येक व्यवहार में धर्म का असर मिलती है। श्रावक के २१ गुण बतलाए गए हैं, जिनमें समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। वे इस प्रकार हैं—

सामायिक व्रत

जीवन के निरन्तर प्रवहमान क्षणों के पुनीत एवं शुद्धतर उपयोग का नाम सामायिक है। दूसरे शब्दों में अन्तःकरण में समत्वभाव की जागृति सामायिक कहलाती है। विषयभाव-कषाय के संताप से संतप्त प्राणी को समभाव की प्राप्ति होने पर उसी प्रकार शान्ति की प्राप्ति होती है जैसे भयानक ताप से तप्त मनुष्य को सरोवर में अवगाहन करने से।

मनुष्य निरन्तर समभाव में विचरण करे, यही सर्वोत्तम है। मगर समभाव की प्राप्ति सरलता से होती नहीं। राग और द्वेष की परिणति जीव को तपाती रहती है। उससे छुटकारा पाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। यह अभ्यास-साधना भी हमारे यहाँ 'सामायिक' कही जाती है। सामायिक की साधना किसी भी स्वच्छ शान्त और एकान्त स्थान में की जा सकती है मगर धर्मस्थान उसके लिए बहुत उपयुक्त स्थल है।

द्रव्य और भाव के भेद से सामायिक के दो प्रकार हैं। उपयोगशून्यता से की जाने वाली सामायिक क्रिया द्रव्यसामायिक है। धर्मस्थान में जाकर स्थान का प्रमार्जन करना, मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करना, कमीज-पगड़ी हटाकर धोती की एक लांग खोलकर उत्तरासंग बनाना, आसन पर बैठना, गुरुवन्दना करके उत्तर या पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होकर बैठना आदि विधि द्रव्यसामायिक है। इतना करके बैठे रहना या गप्प लड़ाना समय का नाश करना मात्र है।

प्रमाद में पड़ कर जितना भी समय निकाला जाता है वह आत्मा के लिए हितकर नहीं, अहितकर होता है। अतएव सामायिक के लिए जो समय नियत किया गया हो उसमें अप्रमत्तभाव से उपयोगपूर्वक आत्मचिन्तन करना चाहिए। यही सच्ची सामायिक है। द्रव्य के साथ भावसामायिक करना ही उचित है।

सामायिक के बत्तीस दोष कहे गये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—१० मानसिक १० वाचिक और १२ कायिक।

(१) किसी प्राणी को दुःख न देना। सब का प्रिय होकर रहना। आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति यह उक्ति उसके व्यवहार में परिलक्षित होती है। वह सब को साता पहुँचाता है और स्वभाव से शान्त होता है।
(२) सौम्य प्रकृति वाला धैर्यवान् होता है।
(३) क्षमाशीलता उसकी रग-रग में रमी रहती है।
(४) वह अपने व्यवहार से लोकप्रिय होकर रहता है।
(५) विचारों में कभी क्रूरता नहीं आता।
(६) कदापि निन्दनीय आचरण नहीं करता।
(७) ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे मूर्खता प्रकट हो।
(८) प्रत्येक कार्य चतुराई से करता है।
(९) इतना लज्जाशील होता है कि तनिक भी गलती करके गहरी वेदना अनुभव करता है।
(१०) किसी के प्रति अनुचित पक्षपात न करता हुआ मध्यस्थ रहता है।
(११) प्रत्येक प्राणी पर शुभ दृष्टि रखता है।
(१२) गुणानुरागी होता है। ऐसा व्यक्ति संकीर्णहृदय नहीं होता। हंसबुद्धि से काम करता है।
(१३) सदा न्यायप्रिय होता है। हानि सहन करके भी अन्याय का पक्ष नहीं लेता।
(१४) दीर्घदृष्टि होता है। कार्य को प्रारम्भ करने से पहले ही सोच विचार लेता है। जो पहले नहीं सोचता उसे पीछे पश्चात्ताप करना होता है। यह सत्य वह जानता है।
(१५) जनसाधारण की अपेक्षा तत्त्वान्वेषी होने से वह विशेषज्ञ होता है।
(१६) वृद्धानुगामी होता है। समाज में जो अनुभवी बड़े-बूढ़े हैं, उनकी सम्मति का अनुसरण करता है।
(१७) विनयवान् होता है, क्योंकि विनय धर्म का मूल है।
(१८) कृतज्ञ होना भारी गुण है। उपकारी के प्रति कृतज्ञता की भावना होनी चाहिए। श्रावक में वह अवश्य होती है।
(१९) श्रावक का लक्ष्य अत्यन्त प्रशस्त होता है। यही जैन धर्म पाने का सार है।
(२) वह अपने प्रत्येक कार्य की आलोचना करता है—दुष्कृत्य की निन्दा करता है और ऐसा करके भविष्य में भूल नहीं होने देने के लिए सावधान रहता है।
(२१) अन्तिम समय में संलेखना करके परम शुद्धि करता है।

जिनमें यह गुण विद्यमान हैं वही सच्चा श्रावक है। यह श्रावकत्व की सही कसौटी है।

सभी को जो समभाव से देखता है, न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष करता है वही वास्तव में सामायिक करता है। यही केवली का कहा सामायिक-धर्म है। सामायिक अंगीकार करने का पाठ है—

करेमि भंते! सामाइयं—सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि। दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ है भगवन्! मैं सामायिकव्रत को अंगीकार करता हूँ। सावद्य (पापमय) क्रियाओं का प्रत्याख्यान करता हूँ। जब तक इस नियम का सेवन करूँ तब तक दो करण तथा तीन योग से अर्थात् मन वचन एवं काय से न सावद्य क्रिया करूँगा न कराऊँगा। प्रभो! पहले के पाप से निवृत्त होता हूँ उस पाप की आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ और गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूँ। मैं अपने आप को पाप से अलग करता हूँ।

प्रश्न—इस पाठ में एक दो आदि सामायिकों की संख्या का उल्लेख नहीं है। फिर यह संख्या कहाँ से आई?

उत्तर—वस्तुतः सामायिक में संख्या का आरोप नहीं किया जा सकता फिर भी द्रव्यसामायिक में साधकों की सुविधा के लिए संख्या का आरोप किया जाता है। यह आचार्यपरम्परा है।

यह श्रावकसामायिक संबंधी कथन है। साधु का सामायिक व्रत जीवन भर के लिए तीन करण तीन योग से होता है। श्रमण भगवान् महावीर ने सर्वविरति सामायिक अंगीकार करते हुए संकल्प किया था—

सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं।

जीवनपर्यन्त मेरे लिए पापकर्म अनाचरणीय होगा। यही परिपूर्ण भावसामायिक है और यही परमार्थतः सामायिक है। मरुदेवी इलायचीकुमार जैसे उत्तम आत्मा भावसामायिक के आलंबन से संसार-सागर से तिर गए। अतएव प्रत्येक साधक के लिए यही उचित है कि वह द्रव्यसामायिक के साथ भावसामायिक की अवश्य आराधना करे। भावसामायिक के रंग में रंगा हुआ मनुष्य इसी जन्म में अपूर्व शान्ति प्राप्त कर लेता है। अन्तर में धधकने वाली कषायों की पूरी शान्ति हो जाती है और शाश्वत शान्ति की राह प्राप्त हो जाती है।

दुर्गति से बचने के लिए, सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए और मानवजीवन के सर्वोच्च साध्य को उपलब्ध करने के लिए सामायिक से उत्तम अन्य कोई साधन नहीं है।

———

मन के दस दोष संक्षेप में यह हैं—(१) विवेक न होना (२) यशकीर्ति की अभिलाषा से सामायिक करना (३) धनादि के लाभ के लिए करना (४) सामायिक का गर्व करना (५) भय से करना (६) निदान करके सामायिक करना (७) सामायिक के फल में संदेह रखना (८) रोष (कषाय)-सामायिक में क्रोधादि करना (९) सामायिक के प्रति विनय भाव न रखना और (१०) आदर न रखना।

वचन के दस दोष यह हैं—(१) सामायिक में कुवचन बोलना (२) बिना विचारे बोलना (३) स्वच्छन्द रागादि-जनक वचन बोलना (४) पाठ को संक्षिप्त करके बोलना (५) कलहकारी वचन कहना (६) विकथा करना (७) हँसी मजाक की बात कहना (८) पाठों का अशुद्ध उच्चारण करना (९) बिना उपयोग बोलना और (१०) गुनगुनाना-स्पष्ट उच्चारण न करना।

काय के बारह दोष यह हैं— (१) अस्थिर आसन २) कुत्सित आसन से बैठना (३) रागपूर्वक देखना (४) घर-गृहस्थी का कार्य करना (५) बिना कारण सहारा लेना (६) शरीर को सिकोड़ कर बैठना (७) अंग मरोड़ना (८) कन्धे मोड़ना (९) बिना कारण अंग दबाना (१) मैल उतारना (११) बिना प्रमार्जन किये अंग खुजलाना और (१२) नींद लेना।

आज के अनेक साधक इन दोषों के प्रति सावधान नहीं रहते और सामायिक को आत्मजागृति का सबल एवं सजीव साधन नहीं बनाते। सामायिक करना मानों एक परम्परा मात्र है। यही कारण है कि सामायिक करने वालों के जीवन में कोई असाधारण विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। इसी से आधुनिक युवक सामायिक जैसी अत्यन्त पवित्र साधना के प्रति भी आदरशील नहीं देखे जाते। सामायिक करने वालों के जीवन-व्यवहार में यदि कोई विकास समभाव शान्ति कषायह्रास आदि दिखाई दे तो कोई कारण नहीं कि उसे ढोंग या व्यर्थ समय नष्ट करने वाली क्रिया समझा जाय।

सामायिक करने वाले के जीवन में क्या विशेषता आ जाती है? शास्त्र में कहा है—

> जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
>
> तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥

यह है भावसामायिक! जो प्राणीमात्र पर समभाव रखता है क्या त्रस अर्थात् चलते-फिरते प्राणी और क्या स्थावर अर्थात् पार्थिवादि एकेन्द्रिय जीव

के कथनानुसार आत्मा अणुप्रमाण है। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानते हैं तो कोई क्षणिक मान कर अपना सन्तोष करते हैं।

मगर वीतराग महापुरुषों का कथन कुछ और है। उन्होंने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ कर जो कहा है उसमें शंका को अवकाश नहीं है और अनुभव से भी उसकी ही पुष्टि होती है।

आत्मा अजर-अमर अविनाशी तत्त्व है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। यह चैतन्यमय द्रव्य है। ज्ञान का जो अभिन्न आधार है वही आत्मा है।

जे आया से विन्नाया
जे विन्नाया से आया।

संसारी आत्मा कर्मवशात् नरक स्वर्ग पशु-पक्षी मानव आदि के भवों में परिभ्रमण करती हुई भी अपने स्वभाव से गुण से धर्म से सदा एक रूप है। वृक्ष में फल फूल और पत्ते यथासमय उत्पन्न होते और यथासमय झड़ जाते हैं मगर वृक्ष उनके साथ नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा एक भव के पश्चात् दूसरे भव में उत्पन्न होता हुई भी स्थिर रहती है। शरीर के साथ वह भस्मीभूत नहीं होता। अमर रहना आत्मा का निज गुण है।

आत्मा में कोई रूप नहीं है, कोई आकार नहीं है। वह अमूर्तिक और अनाकार है। इस कारण बड़े से बड़ा कोई भी ज्ञानी हथेली पर रख कर उसे दिखा नहीं सकता। हमें परमाणु दिखाई नहीं देता तो यन्त्र के द्वारा देख सकते हैं मगर इस तरह आत्मा को देखने का कोई साधन नहीं है।

आज वैज्ञानिक स्वर्ग और पाताल का पता लगा-लगा कर जानने जा रहे हैं। चन्द्रमा तक पहुँचने का दावा करते हैं। विश्व का देशाटन चालू होने जा रहा है। मगर वे यह नहीं जानते कि स्वयं कौन हैं? शरीर है या शरीर से भिन्न है? यह जानने के उनके पास भौतिक साधन भी नहीं है। वे जानना तो चाहते होंगे मगर आत्मा किसी यन्त्र से दिखाई नहीं दे सकता। उसे देखने वाली दृष्टि दूसरी ही है। उसे अनुभव के नेत्रों से ही देखा जा सकता है।

इसी तरह यह कहा जा सकता है कि आत्मा आत्मा से ही देखा जाता है। जब तक दृष्टि आत्माभिमुखी नहीं, बहिर्मुखी बनी हुई है तब तक उसे देखने की आशा करना वृथा है।

आत्मा

सब धर्मों का आधार आत्मा है। आत्मा है तो सभी कुछ है और आत्मा नहीं तो सब निराधार है। शास्त्र में कहा है—

आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी।

—आचारांग अ० १ उ० १

जो इस तथ्य को हृदयगम कर लेता है कि आत्मा पुनर्भव धारण करता है, शाश्वत और स्वतंत्र सत्तामय है वही सच्चा आत्मवादी है, लोकवादी है कर्मवादी है और वही क्रियावादी है। इस प्रकार संसार के समस्तवाद आत्मवाद पर ही टिके हुए हैं।

जैनधर्म का प्रत्येक सिद्धान्त बुनियादी और समन्वयात्मक है। एकान्त वादियों की भाँति अंधेरे में ढेला फेंकना उसे इष्ट नहीं है।

कितने विस्मय का विषय है कि चिरन्तन काल से चिन्तन-मनन होते रहने पर भी विश्व के मनीषी आत्मा जैसे मौलिक तत्त्व के विषय में एकमत नहीं हो सके। एक कहता है—आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है तो दूसरा कहता है—आत्मा एक ही है और वही जलचन्द्रवत् अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होती है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्[1]॥
और—पुरुष एवेद सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

इन्हें विभिन्न शरीरों में विभिन्न आत्मा नहीं दिखाई देता। कोई-कोई कहते हैं—आत्मा हैं तो अनेक मगर सभी आकाश की भाँति व्यापक हैं। किसी

न सा जाई न सा जोणी

जत्थ जीवो न जायइ।

इस प्रकार समस्त गतियों और योनियों में उत्पन्न होने और वहाँ की विविध व्यथाएं सहन करने पर भी आत्मा की सत्ता ज्यों की त्यों बनी है। नरक के परमाधामी देव उसका एक अंश (प्रदेश) भी कम नहीं कर सके।

स्पष्ट है कि आत्मा शाश्वत तत्त्व है। उसमें कदापि कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। फिर भी पर्याय की दृष्टि से आत्मा परिवर्तनशील है।

स्वर्णकार स्वर्ण की करधनी को मिटा कर कंकण बनाता है और फिर कंकण को मिटा कर और कुछ बनाता है। इस परम्परा में स्वर्ण तो ज्यों का त्यों कायम रहता है मगर उसकी अवस्थाएं बदलती रहती हैं। इसी प्रकार द्रव्य से नित्य होने पर भी आत्मा पर्याय से अनित्य है।

जिस प्रकार नित्यता और अनित्यता के विषय में अनेकान्तवाद लागू होता है उसी प्रकार एकता और अनेकता के विषय में भी। स्थानांगसूत्र में कहा है—

एगे आया।

समस्त आत्माओं में चैतन्य लक्षण एक-सा होने से आत्मा कथंचित् एक है। मगर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से अनेक भी है।

आत्मा स्वभाव से शुद्ध बुद्ध निर्विकार चतन्यमय होने हुए भी कर्म जनित मलीनता के कारण विकारमय हो रहा है। जब वह साधना के द्वारा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है तो शुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है। तब उसे 'सिद्ध' संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार संसारी और मुक्त के भेद से जीवों की दो श्रेणियाँ हो जाती हैं।

संसारी जीव चार प्रकार के हैं—देव मनुष्य तिर्यंच और नारक। देव मनुष्य और नारक पंचेन्द्रिय होते हैं। तिर्यंच एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भी होते हैं। पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं। लट आदि द्वीन्द्रिय चींटी आदि त्रीन्द्रिय भ्रमर आदि चौइन्द्रिय और गाय भैंस आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं।

आत्मा को परखने के लिए शास्त्रों का मन्थन करना आवश्यक है जिससे कुछ प्रगति की आशा की जा सकती है। आशावादी आज नहीं तो कल अवश्य आत्मज्ञान पा सकता है। आत्मा को पहचानने के लिए दिल और दिमाग दोनों सक्षम और श्रद्धासम्पन्न होना चाहिए।

यदि इस देह को मन्दिर मान लिया जाय तो इसके भीतर विराजमान सच्चिदानन्दस्वरूप देवता आत्मा है। वह एड़ी से चोटी तक समग्र शरीर में व्याप्त है जैसे तिलों में तेल।

कान आँख नासिका जिह्वा और स्पर्शनेन्द्रिय ये इस देह-मन्दिर के गवाक्ष हैं।

जैसे गवाक्ष में बैठा व्यक्ति बाहर देखता है नाना पदार्थों का ज्ञान करता है, उसी प्रकार जीव शब्द रूप गंध रस और स्पर्श आदि का ज्ञान पूर्वोक्त गवाक्षों से प्राप्त करता है।

देह-मन्दिर का देव सब देवों से अधिक चमत्कारी है। जगत् के बहुत-से देवों की सृष्टि उसी ने की है।

हम व्यवहार में 'मैं और मेरा' शब्द का बहुधा प्रयोग करते हैं। यदि इन शब्दों के मर्म का विचार करें तो आत्मस्वरूप को समझने में सहायता प्राप्त की जा सकती है। यह मेरी आँख है यह मेरा हाथ या पैर है ऐसा जब हम कहते हैं तो सोचना चाहिए कि यह मेरा कहने वाला कौन है? यह हाथ-पैर आदि किसके हैं?

'मेरा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि हाथ पैर आदि अवयवों से भिन्न कोई अवश्य है। वह जो है वही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा को समझना जितना कठिन है उतना ही सरल भी है।

यह 'मैं' सैकड़ों हजारों लाखों वर्षों से नहीं अनादि काल से संसार में फुटबॉल की तरह ठोकरें खा रहा है-मारा-मारा फिर रहा है।

'मैं' (आत्मा) कहाँ-कहाँ गया? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर ने दिया है। वे कहते हैं—ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ आत्मा का जन्म न हुआ हो। ऐसी कोई योनि और गति नहीं जहाँ इसकी उत्पत्ति और मृत्यु न हुई हो—

न सा जाई न सा जोणी

जत्थ जीवा न जायइ ।

इस प्रकार समस्त गतियों और योनियों में उत्पन्न होने और वहां की विविध व्यथाएं सहन करने पर भी आत्मा की सत्ता ज्यों की त्यों बनी है। मरण के परमाणुओं देख उसका एक अंश (प्रदेश) भी कम नहीं कर सके।

स्पष्ट है कि आत्मा शाश्वत तत्त्व है। उसमें कदापि कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। फिर भी पर्याय की दृष्टि से आत्मा परिवर्तनशील है।

स्वर्णकार स्वर्ण की करधनी को मिटा कर कंकन बनाता है और फिर कंकन को मिटा कर और कुछ बनाता है। इस परम्परा में स्वर्ण तो ज्यों का त्यों कायम रहता है मगर उसकी अवस्थाएं बदलती रहती हैं। इसी प्रकार द्रव्य से नित्य होने पर भी आत्मा पर्याय से अनित्य है।

जिस प्रकार नित्यता और अनित्यता के विषय में अनेकान्तवाद लागू होता है उसी प्रकार एकता और अनेकता के विषय में भी। स्थानांगसूत्र में कहा है—

एगे आया ।

समस्त आत्माओं में चैतन्य लक्षण एक-सा होने से आत्मा कथंचित् एक है। मगर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से अनेक भी हैं।

आत्मा स्वभाव से शुद्ध बुद्ध निर्विकार चैतन्यघन होते हुए भी कर्मजनित मलीनता के कारण विकारयुक्त हो रहा है। जब वह साधना के द्वारा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है तो शुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है। तब उसे 'सिद्ध' संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार संसारी और मुक्त के भेद से जीवों की दो राशियां हो जाती हैं।

संसारी जीव चार प्रकार के हैं—देव मनुष्य तिर्यंच और नारक। देव मनुष्य और नारक पंचेन्द्रिय होते हैं। तिर्यंच एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भी होते हैं। पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं। लट आदि द्वीन्द्रिय चींटी आदि त्रीन्द्रिय भ्रमर आदि चौइन्द्रिय और गाय घोड़ा आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं।

इस प्रकार जैनशास्त्रों में जीवतत्त्व का अत्यन्त विशद वर्णन है। विस्तारभय से यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इसका अभिप्राय यह दिखलाना है कि क्या वनस्पति आदि एकेन्द्रिय और क्या सिद्ध सब की आत्मा मूलतः एक सरीखी है।

इतर धर्मों की अपेक्षा जैनदर्शन में आत्मतत्त्व का वर्णन अत्यन्त गम्भीर और विशद है। उसे भलीभांति समझने के लिए अपने आप को समझना चाहिए। अपने को समझ कर यदि सन्मार्ग पर लगा दिया तो आपकी आत्मा ही आपका परम मित्र होगी।

अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठियो।

उन्मार्ग में प्रस्थित आत्मा शत्रु होता है और सन्मार्ग में प्रस्थित होने पर वही सबसे बड़ा मित्र बन जाता है।

महात्मा

महान् आत्मा को महात्मा कहते हैं। आत्मा की महत्ता का अर्थ है आत्मिक गुणों की उत्कृष्टता। जिस आत्मा ने अपने गुणों का असाधारण विकास किया है वह महात्मा पद का अधिकारी है।

नन्दीसूत्र में भगवान् महावीर को महात्मा कहा है—

जयइ महप्पा महावीरो।
महात्मा महावीर जयवंत हों।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं जिन्होंने आत्मा को उच्च पद पर पहुँचाया है वे सभी महात्मा हैं।

कमल कीचड़ में पैदा होता है, मोती घोंघे में उत्पन्न होता है। इसी तरह पुरुष माता की कूख से जन्म लेता है। मनुष्य अपने कानून-कायदे में परिवर्तन कर सकता है। करता भी है मगर प्रकृति के कानून में परिवर्तन नहीं कर सकता। वहाँ उसकी दाल नहीं गलती। क्या साधारण आत्मा क्या महात्मा और क्या परमात्मा सभी का जन्म माता की कूख से ही होता है। कोई भी पुरुष स्वर्ग या कहीं आकाश से नहीं टपकता न टपकेगा।

जन्मकाल में शारीरिक संरचना प्रायः सब की समान होती है। संस्कारों में अवश्य अन्तर होता है। कोई-कोई आत्मा पूर्वजन्मों के सात्विक शुभ संस्कारों के साथ जन्म लेता है तो कोई मिथ्यात्व आदि कुसंस्कारों के साथ। तत्पश्चात् प्राप्त जन्म में संगति, अभ्यास, वातावरण आदि के भेद से उसकी रुचि एवं व्यक्तित्व में भी अन्तर पड़ जाता है। यही बात दूसरे भी कहते हैं—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
[illegible] ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

जन्म के समय सभी शूद्र होते हैं। तदनन्तर संस्कार होने पर मनुष्य द्विज कहलाने लगता है। वेदादि शास्त्रों का पाठी होने पर विप्र और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने पर ब्राह्मण संज्ञा प्राप्त होती है।

स्पष्ट है कि कोई महात्मा या परमात्मा जन्म से ही नहीं होता। उसके लिए संस्कारों की आवश्यकता है। गुणों के विकास की अपेक्षा है।

महात्मा बनने के लिए सर्वप्रथम जीवन में सरलता एवं नम्रता को स्थान देना चाहिए। रोहक अनगार की तरह भद्रप्रकृति कोमल स्वभाव और विनीतता चाहिए। रोहक मुनि के विषय में कहा गया है —

'पगइभद्दए, पगइमउए, पगइविणीए, पगइउवसंते पगइपयणुकोह माण-माया-लोभे मिउमद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए, विणीए।

वह स्वभाव से ही भद्र स्वभाव से ही मृदु, स्वभाव से ही विनीत स्वभाव से ही उपशान्त स्वभाव से हल्के क्रोध मान माया लोभ वाले अत्यन्त निरभिमान गुरु के आश्रम में रहने वाले भद्रिक और विनीत थे।

इन गुणों के विकास के लिए सतसमागम की आवश्यकता होती है। कहा है—

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका।

अल्पकालीन भी सत्संगति मनुष्य पर कभी कभी इतना प्रभाव डाल देती देती है कि वह भवसागर को तिरने के लिये नौका बन जाती है।

मेघकुमार, जम्बूकुमार, गजसुकुमार, अतिमुक्तक जैसे स्वनामधन्य संत संगति के प्रभाव से ही महात्मा बने थे।

जैनदर्शन में उपादान और निमित्त दो कारण माने गए हैं। उपादान आत्मा यदि शुद्ध है तो संगति रूप निमित्त का असर हो सकता है। अकाम निर्जरा करता हुआ जीव शुद्ध होता है। जब उपादान शुद्ध होता है तो जंगल में मंगल हो जाता है। निर्जन वन में भी अनुकूल निमित्त-सुसंगति मिल जायगी।

भृगु पुरोहित के दो पुत्रों को वन में भी मुनि मिले और क्षणिक उपदेश पा महात्मा बन गये।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।

वह प्राणी मात्र को अपना कुटुम्ब मानता है। प्राणी मात्र पर मैत्रीभाव रखता है। गुणी जनों का आदर करता है। दीनों पर दया रखता है और दैववशात् कोई शत्रु भाव से आवे तो उसके प्रति भी समभाव ही प्रदर्शित करता है।

महात्मा के मन में जो होगा वही वह बोलेगा और जो बोलेगा उसी का आचरण करेगा। इन्हीं गुणों से गांधीजी महात्मा कहलाए। उनके विषय में एक लेखक ने लिखा है—

'गांधीजी उनको अन्तिम सूचना मात्र समझते थे। उनके शब्दों के पीछे क्रिया का बल था। एक शब्द की पीठ पर भी क्रियाओं की गठरी लदी रहती थी।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा महात्मा यहाँ तक कि परमात्मा भी बनने का अधिकारी है। केवल उपयुक्त गुणों का विकास करने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वह सब हमें प्राप्त हैं। मानवभव परिपूर्ण इन्द्रियाँ दीर्घ जीवन स्वस्थ शरीर, उच्चकुल और आर्यक्षेत्र मिला है। अब हमें महात्मा बनने की अवश्य तैयारी करनी चाहिए।

भारण्ड पक्षी की भाँति सदा जागृत रहना जनता का कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित करना और स्वयं संयममय जीवन यापन करना सन्तों का कर्तव्य है।

भारत माता महात्माओं का जन्म देकर धन्य है।

परमात्मा

परमश्चासौ आत्मा-परमात्मा अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा ही परमात्मा है। जो आत्मा जन्म-मृत्यु से मुक्त, कर्म कालिमा से रहित, जगत् के सब आत्माओं से उत्तम, शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और परमवीतराग हैं, वह परमात्मा कहलाते हैं। परमात्मा अनन्त आत्मिक सुख के सरोवर में सदा निमग्न रहते हैं। परमात्मपद की आदि है, अन्त नहीं।

कुछ लोग समझते हैं कि परमात्मा अर्थात् ईश्वर सदामुक्त या नित्यसिद्ध है। मगर यह धारणा भ्रमपूर्ण है। परमात्मा आत्मा से कोई पृथक् सत्ता नहीं है। आत्मा ही साधना के द्वारा सर्वथा शुद्ध और निष्कर्म होकर परमात्मा का पद प्राप्त करता है। कहा है—

परिक्षीणसकलकर्मा ईश्वरः।

जिसने आत्मा के साथ लगे हुए समस्त कर्मों का क्षीण कर लिया है, वही परमात्मा या ईश्वर है।

नाना प्रकार के तपश्चरण से इच्छाओं के निरोध से कर्मों का क्षय होता है।

आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है।
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है न खेद है॥

प्रत्येक संसारी जीव में ईश्वरत्व विद्यमान है। कर्मों के आवरण से वह आच्छादित हो रहा है। ज्यों ही वह आवरण दूर हुआ कि आत्मा का ईश्वरत्व उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जैसे मेघपटल हटने पर सूर्य अपनी समस्त किरणों के साथ देदीप्यमान हो उठता है।

एक बार ईश्वरत्व प्राप्त होने पर कभी उसका अन्त नहीं आता, क्योंकि पूर्ववर्ती कर्म ही उत्तरकालीन नवीन कर्मों को उत्पन्न करते हैं। विकार ही विकार का जनक होता है। एक बार समस्त कर्मों का समूल क्षय हो जाने से भविष्य में न तो कर्मों का बंध होता है और न विकार ही उत्पन्न होते हैं। अतएव परमात्मावस्था की प्राप्ति होने पर उसका अन्त नहीं है।

कतिपय दर्शन ईश्वर को जगत्कर्त्ता कहते हैं। उनके कथनानुसार जगत् के समस्त पहाड़ पर्वत समुद्र रेगिस्तान पेड़ पौधे पृथ्वी आदि की रचना ईश्वर ने की है। वही संसारी जीवों को नरक-स्वर्ग में भेजता है और सुख दुःख देता है। मगर विचार करने पर यह मान्यता उपहासास्पद ठहरती है। आज के इस वैज्ञानिक युग में छोटे बालक भी पहाड़ों आदि की उत्पत्ति के विषय में समझने लगे हैं। पेड़-पौधों आदि का उत्पत्ति के विषय में कौन नहीं जानता? इसके अतिरिक्त ईश्वर को इस मायाकूट में पड़ने की आवश्यकता भी क्या है? प्रयोजन बिना मूर्ख भी कोई कार्य नहीं करता तो ईश्वर क्यों करेगा? अगर उसका कोई प्रयोजन हो तो वह ईश्वर ही कमा?

यदि ईश्वर प्राणियों को स्वर्ग-नरक में भेजता है तो किसी को स्वर्ग में और किसी को नरक में भेजने के कारण वह रागी-द्वेषी ठहरेगा। कर्म के अनुसार भेजता हो तो उसे हमारे कर्मों के अधीन मानना पड़ेगा। स्वाधीन न रहेगा। फिर सर्वशक्तिमान् होते हुए ईश्वर प्राणियों को कुकर्म करने से पहले ही रोक क्यों नहीं देता?

तात्पर्य यह है कि जगत्कर्त्ता मानने से ईश्वर के ईश्वरत्व में बट्टा लगता है। हाँ स्वभावतः परमैश्वर्य सम्पन्न होने के कारण यदि आत्मा को ही ईश्वर माना जाय तो वह अवश्य कर्त्ता कहा जा सकता है। आत्मा सांसारिक अवस्था में कर्मों का कर्त्ता है मगर मुक्त दशा में अकर्त्ता है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का मार्ग ही निर्दोष है।

परमात्मा की महिमा का गान सुनकर जिज्ञासु जनों को यह जानने की उत्कंठा होना स्वाभाविक है कि परमात्मा कहाँ रहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया जा चुका है।

परमात्मा सब प्रकार के राग-द्वेष से रहित हैं। न किसी पर रुष्ट होते हैं, न तुष्ट होते हैं। न किसी को सुख देते हैं, न किसी को दुःख देते हैं। न भला करते हैं, न बुरा करते हैं। तथापि हम उनका आराधन स्मरण चिन्तन गुणगान करते हैं। इसका हेतु यही है कि वे हमारे आदर्श हैं। परमात्मा की भक्ति से हमारे अन्तःकरण में शुचिता पवित्रता और वीतरागता उत्पन्न होती है। कहा है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

जो जिसके प्रति श्रद्धावान् होता है वह वही (वैसा ही) बन जाता है।

परमात्मा के ध्यान से आत्मा परमात्मा बनता है। अतएव वे हमारे लिए ध्येय हैं, गेय हैं, स्मरणीय पूजनीय और वन्दनीय हैं।

सिद्ध श्रीपरमात्मा अरिगंजन अरिहन्त।
इष्ट देव वन्दूं सदा भयभंजन भगवन्त।

सद्गुरु की सेवा

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' इस वाक्य में सेवाधर्म की गंभीर महत्ता का ही नहीं, भारतीय संस्कृति का सार भी समाविष्ट कर दिया गया है। भारत के विराट् वाङ्मय में सेवाधर्म ने महत्त्वपूर्ण पृष्ठ रोके हैं। जैनधर्म सेवा को अन्तरंग तप में परिगणित करके उसे महान् एवं उच्चकोटि की साधना का पद प्रदान करता है।

फिर गुरुसेवा की महिमा का तो कहना ही क्या है! जो जीवन की झाड़ी-कंटक और बीहड़ पगडंडियों में प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं, अन्तर में व्याप्त अज्ञता के तिमिर का समूल उन्मूलन करके अपूर्व ज्योति जागृत करते हैं, जिनके अनुग्रह से साधना का पथ प्रशस्त बनता है और जो सोहं का साधक नर को नारायण बनाते हैं, उन गुरुदेव की महिमा का वर्णन भी किस प्रकार किया जा सकता है! वास्तव में वह साधक धन्य है जिसने सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त किया है, जो गुरुकृपा का पात्र बना है और जिसने सद्गुरु के चरणों में अपना जीवन निछावर कर दिया है।

श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमर मुनिजी के शब्दों में—"हितोपदेशी गुरुदेव का विनम्र हृदय से अभिनन्दन करना और उनका दिन तथा रात्रि संबंधी सुख-शान्ति पूछना शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य है।"

और सच्चा शिष्य सुख-शान्ति पूछने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझेगा, वरन् यथाशक्य संभव उपाय से सुख-शान्ति पहुँचाने का भरसक प्रयत्न भी करेगा।

विनय और सेवापरायण शिष्य अपने गुरु की निरभिमान एवं साधनासम्पन्न आध्यात्मिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी सहज ही बन जाता है। मगर पूर्वकृत प्रबल पुण्य का परिपाक होने पर ही ऐसे गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त होता है।

नहीं मालूम कब कौन-सा पुण्य मैने उपार्जित किया था कि मुझे ऐसे ही महान् सद्गुरु की प्राप्ति हो सकी। स्वर्गीय सद्गुरु महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज का उस निर्जन वन में मुझे प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ जहाँ हरे भरे पार्वत्य प्रदेश में मेवाड़ के महनीय महादेव एकलिंगजी विराजमान है।

बालब्रह्मचारिणी धीसमूर्त्ति विदुषी श्री धोलकुंवरजी म० ने मुझे वहाँ गुरुदेव के चरणों में अर्पण किया। उस समय का वह अद्भुत दृश्य आज भी मेरे मस्तिष्क पर प्रत्यक्ष-सा अंकित है।

अहो आश्चर्य! मै कितने निविड अंधकार मे भटक रहा था। जीवन का कोई लक्ष्य नहीं था। लक्ष्य स्थिर करने की चेतना ही नहीं जागी थी।

उस समय नमस्कारमहामन्त्र की गंभीर और पावन ध्वनि मे मेरे जीवन मे प्रकाश की प्रथम किरण चमकी।

मैं धर्मपथ से कोसों दूर था। केवल पेट भराई की कला जानना चाहता था। स्मरण आता है धर्म का नाम उस समय भी प्रिय था मगर धर्म से परिचित नहीं था। महामती की महती कृपा से मैं लोकोत्तर तारा-चन्द्र के दिव्य प्रकाश को प्राप्त करने मे समर्थ हो गया।

मे मुनि बन गया।

मुनि तो बन गया मगर संस्कारों की भारी कमी थी। तब मेरे अनघड़ जीवन को घड़ने और देहाती विचारों को मोड़ देने मे पूज्य गुरुदेव ने जो श्रम किया वह अपूर्व था। सुकोमल लता को मोड़ देना सुगम है अबुधबालक को संस्कार देना सरल है किन्तु परिपक्व घड़े पर रंग चढ़ाना टेढ़ी खीर है।

उन महापुरुष की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वे जीवन में धीरे-धीरे परिवर्तन करके मानव को अपने अनुकूल बना लेते थे और फिर जैन सस्कारों में ले आते थे।

नियमोपनियमों के क्षेत्र में प्रवेश करने और अग्रसर होने की रुचि मुझ में सदा से रही है, मगर ज्ञान के महालोक से मैं दूर था। वह गुरुदेव के अनुग्रह से मुझे प्राप्त हो सका। मेरे दिल और दिमाग को वे ऐसा बना गए हैं कि हजार हजार तूफान आने पर भी जैनधर्म के प्रति आस्था की गहरी पैठी जड़ें हिल नही सकती।

जैनधर्म के शुद्ध संस्कार एवं सम्यग्ज्ञान-दर्शन के दातार के ऋण को किस प्रकार हल्का किया जाय? उनकी स्वर्गासीन आत्मा को अपने व्यवहार से किस प्रकार सन्तुष्ट किया जाय? यह सोच कर एक निर्णय किया है—सेवा का व्रत जो गुरुदेव का विशेष रूप से प्रिय था अंगीकार किया जाय।

सेवाव्रत के सुसंस्कार गुरुत्व से मुझे विरासत में मिले हैं। शास्त्र में सेवाधर्म का स्थान बहुत ऊंचा है। सेव्य-सेवकभाव को समझे बिना सेवा नहीं की जा सकती। सेव्य पुरुष के हृदय में सेवक का स्थान बन जाय तो समझना चाहिए कि सेवा की गई है। जैसे गाय अपने बछड़े का स्मरण करती है उसी प्रकार सेव्य पुरुष यदि समय पड़ने पर सेवक को मधुर स्वर में स्मरण करे तो सेवक का अपना श्रम सार्थक समझना चाहिए।

सेवा का अवसर पाकर हमें स्वर्ग से भी अधिक आनन्द का अनुभव होता है।

मेरे जीवन के सरताज

स्वभावदशा में रमण करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इस धर्म को धार प्रवृत्ति करता हुआ प्राणी अजरामरगति प्राप्त करता है। मगर अनादिकालीन वैभाविक परिणति में रचे-पचे रहने वाले मन को विभावदशा से हटा कर स्वभावदशा की ओर आकर्षित करना और फिर उसी में लीन रखना साधारण कार्य नहीं। ऐसा करने के लिए साधक को सतत सावधान प्रयत्नशील और जागृत रहना पड़ता है।

मगर साधक की सावधानी प्रयत्न और जागरूकता भी तभी काम आती है जब गुरु का पथप्रदर्शन हो। गुरु-कृपा के बिना मनोवृत्ति अन्तर्मुखी नहीं हो सकती।

किसान अपने हल-बैलों की सहायता से ऊबड़-खाबड़ भूमि को उर्वरा भूमि के रूप में परिणत कर सकता है उसी प्रकार गुरु मेरे जैसे अनघड़ नरदेहधारी मानव को भी ज्ञान-क्रिया के बल से सुसंस्कारी बना लेते हैं।

वृक्ष की जड़ों का अच्छा होना ही सुन्दर सरस फूलों के होने की सूचना है। बीज बोने वाला पहले उसका निरीक्षण-परीक्षण करता है मगर जड़ों का प्रसार तो बीज में निहित शक्ति पर निर्भर है। अगर बीज सड़ा-गला घुना और शक्तिहीन है तो ऊपरी साधन किसी प्रकार उपयोगी नहीं हो सकता।

लता में आगे बढ़ने की शक्ति है। वह सजीव है सुरक्षित है फिर भी बिना किसी आधार के वह गगन-चुम्बन नहीं कर सकती। शिष्य का जीवन लतावत् है। गुरु उसके जीवन का आधार है उत्थान में सहायक है। इस प्रकार लता-बीज की अपनी शक्ति और ऊपरी आधार दोनों की आवश्यकता है।

लता अपने आधार का परित्याग कर देगी तो उसका अधःपतन अनिवार्य है। जो शिष्य अपने गुरु का अवलम्बन त्याग देता है उसका भी विनिपात अवश्यम्भावी है।

बिना सोच-विचार और ननु-न च किये गुरु के आदेश को शिरोधार्य करना शिष्य का परम धर्म है। विश्वास रखो गुरु का आदेश कदापि अहितकर

नहीं हो सकता। भले ही वह आपातत: कटुक प्रतीत होता हो, तथापि परिणाम में उसमें मधुरता होगी। गुरु परमार्थी हैं, जगत् के प्रत्येक प्राणी का हित चाहने वाले। उनका अन्तर मोह-ममत्व से रहित है। वह अहितकर आदेश कैसे देंगे?

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव श्री ताराचन्द्रजी महाराज कितने निस्पृह, निर्लोभ और परोपकारपरायण थे! क्षमा की मूर्ति! सरलता की साकार प्रतिमा! धैर्य के सागर! उनके विराट् व्यक्तित्व का चित्रण और सद्गुणों का वर्णन करना मेरी शक्ति में नहीं, फिर भी अन्तःकरण की बलवती प्रेरणा कुछ न कुछ लिखने को विवश करती है। उमंग दबाये दबती नहीं है।

बीस वर्ष पर्यन्त उन महापुरुष की छत्र-छाया में मेरे मुनिजीवन का निर्माण हुआ। सदाचार में लगा कर जो कुछ भी प्राप्त किया, सब उन्हीं का प्रसाद है।

प्रेम होता है प्रकृति मिलने पर और प्रकृति का मिलान होता है बड़ों की आज्ञा के अनुसार व्यवहार करने से।

मैंने गुरुदेव को अपने सिर का ताज बनाया, इस कारण नहीं कि उनकी कृपा से मुझे उत्तम खान-पान या भूषण वस्त्र मिले, वरन् सम्यक्त्व रत्न के साथ संयमदाता और ज्ञानदाता होने से। गुरु ने मुझे वह खजाना दिखाया जो तीन लोक का राज्य पाने पर भी नहीं दृष्टिगोचर हो सकता। वे अमोघ धार्मिक सम्पत्ति के स्वामी थे।

मेरे दिल की दिवारों पर आज भी उनके महान् व्यक्तित्व की छाप ज्यों की त्यों है। हृदय चाहता है, जब तक कर्मसिद्धि-मुक्ति प्राप्त न हो जाय तब तक भव-भव में उन्हीं गुरुदेव का सान्निध्य रहे, उन्हीं की छत्र छाया मुझ पर बनी रहे, मैं उन्हीं का पथगामी रहूँ।

वह पुनीतात्मा यद्यपि स्वर्गलोक में आसीन है, तथापि मैं उनके बाद का समय उन्हीं के पदचिह्नों पर चलता हुआ जीवन का पथ मानता हूँ। वे आज भी मेरे पथप्रदर्शक हैं। मेरे जीवन के सरताज हैं।

देवाधिदेव आत्मा

किसी-किसी दर्शनशास्त्र में विश्व में तीन मूलभूत राशियाँ स्वीकार की गई हैं—जड़, जीव और ईश्वर। वे ईश्वर को अनादिसिद्ध जीव से विलक्षण पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं।

मगर जैनदर्शन का अमर और अकाट्य सिद्धान्त है कि आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं। जिस आत्मा ने प्रचण्ड पुरुषार्थ करके आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर होकर कर्मवासना का उन्मूलन कर दिया है वही परमात्मा या ईश्वर बन जाता है। ईश्वर और जीव के बीच केवल कर्म की सत्ता असत्ता का भेद है। प्रत्येक जीव मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व आत्मा है और मुक्त होने पर परमात्मपद का अधिकारी हो जाता है।

आत्मा परमात्मा में, कर्म का ही भेद है।
काट दे गर कर्म को तो फिर भेद है न खेद है।

मानव देवदर्शन की कामना से प्रेरित होकर पर्वतों की चोटियों पर भटकता है, बीहड़ वनों में जाकर बैठ जाता है मगर जो अपने से बाहर देव दर्शन करना चाहता है, उसे देवदर्शन होगा कैसे? यह एक विचारणीय प्रश्न है। देव तो अपने ही भीतर आसीन है बल्कि आप ही है उसे कहीं बाहर खोजना भूल है। परमात्मा का स्थान भूतल नहीं है। वह इन चर्मचक्षुओं का गोचर नहीं है। इन्द्रियों के साथ उसका कोई संबन्ध नहीं हो सकता।

सिद्धालय या सिद्धशिला की जो कल्पना हमारे सामने है वह भी सिद्ध स्वरूप आत्मा को पहचानने में कुछ उपयोगी नहीं है। लोक के ऊपर अग्रभाग पर स्थित जो अजर-अमर आत्मा हैं वे ही सिद्धदेव हैं। उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन उपलब्ध है जो हमारे भीतर शक्ति रूप में विद्यमान होने पर भी व्यक्ति रूप में हमें दुर्लभ हो रहा है। अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन के द्वारा वे हमारे चरित्र को उन्मीलनभाव में देख रहे हैं। मगर असन्दिग्ध बात है कि वे हमारा भला या बुरा नहीं करते।

यदि सिद्ध परमात्मा हमारे जीवन की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते तो फिर हमें आजीवन माला लिये उनके पीछे पड़े रहने व उनके नाम की रट लगाने से क्या लाभ है ?

प्रश्न उचित है। मगर सिद्ध बुद्ध मुक्त परमात्मा हमारी साधना व आदर्श हैं। एक दिन वे हमारी ही कोटि में थे। साधनामार्ग का अवलम्बन करके उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है जो हमारा लक्ष्य है। यही कारण है कि हम उनका स्मरण कीर्तन और स्तवन करते हैं उनके नाम की माला फेरते हैं।

अरिहन्त भी हमारे आराध्य हैं। वे मानवदेहधारिणी माता की कुक्षि से जन्म लेते हैं। फिर यौवन वय में राग-द्वेष बन्धन से विमुख होकर आत्मसाधना के सम्मुख होते हैं। कर्म रूप अरि का हनन करके अरिहन्त पद से विभूषित हो जाते हैं। इनका स्मरण हमारी आत्मा में प्रेरणा साहस धैर्य और आश्वासन जागृत करता है।

जैनधर्म के अनुसार भवनपति वाण-व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देव भी हैं मगर वे मानवों की तरह संसार चक्र में फँसे हुए हैं। उनका जीवन स्तर हमसे ऊँचा नहीं है। वे स्वयं मानव आत्माओं के समान व अभिलाषा रखते हैं। अतएव वे हमारे वन्द्य देव नहीं हैं। हम उन्हीं देवों को वन्दनीय मानते हैं जो आध्यात्मिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं, जिन्होंने समस्त आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त की है जो शुद्ध बुद्ध चिदानन्दमय पद पर प्रतिष्ठित हैं अनन्त ज्ञानज्योति से प्रभास्वर और अजर अमर पद के अधिकारी हैं। उन्हीं के ध्यान चिन्तन और गुणगान से हमारी आत्मा में दिव्य आलोक की रश्मियाँ विकसित होती हैं। उन्हीं के चरणों का अनुसरण करके हम अपने अन्तिम अभीष्ट को प्राप्त करने का सामर्थ्य पाते हैं। उन्हीं को अपना आदर्श मानकर हम अपनी आत्मा पर विजय पा सकते हैं।

दुज्जयं चेव अप्पाणं
सव्वमप्पे जिए जियं।

—उत्तराध्य० ९

आत्मा पर विजय प्राप्त करना महान् विजय है क्योंकि आत्मा दुर्जय है। किन्तु जो आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है वह सर्वविजयी हो जाता है।

आत्मदेव दुनियाँ भर के देवों से अधिक बलवान् है। वह जब चक्कर में पड़ता है तो सारी साधना पर पानी फिर जाता है। किसी भी कार्य का प्रारम्भ

में नमस्कारमंत्र का स्मरण किया जाता है मगर यदि आत्म-विश्वास नहीं है तो समस्त स्मरण नहीं के बराबर है। सुख-दुख में रात-दिन को प्रत्येक घड़ी में साथी होने से हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि आत्मा ही सब से बड़ा देव है।

मानवदेहधारी पुण्यात्मा ही संसार के मायाजाल को तोड़ कर और संयम अंगीकार करके कर्मों का क्षय करते हैं। वे केवलज्ञानी होने पर अरिहन्त देव कहलाते हैं और अरिहन्त ही निर्वाण पद प्राप्त करने पर सिद्ध देव हो जाते हैं।

अरिहन्त देव और सिद्ध देव ही विश्व के समस्त देवों में उत्तम और श्रेयस्कर हैं। वह पूर्णता को प्राप्त हैं। वे हम जान रहे हैं और हमारी दिनचर्या को भलीभांति देख रहे हैं। अन्तःकरण में क्षण-क्षण में आविर्भूत-तिरोभूत होने वाले अध्यवसाय उनसे छिपे नहीं हैं। फिर भी वे हमारे जीवन में परिवर्तन नहीं करते। उनका नाम लेकर हम स्वतः ही परिवर्तित होते हैं। अन्ततोगत्वा उनके जैसा हमें भी होना है।

जीवन को परिवर्तित करने का माध्यम है—हिंसा आदि असत् आचार से उपरत होना और क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध होना। जिस शक्तिविशेष से हम खाते पीते बोलते हैं वही प्राण है। प्राण का नाश करना ही हिंसा है। कषाय जन्म-मरण के मूल कारण हैं। इनका उन्मूलन करना जन्म-मरण के अनादिकालीन चक्र से बाहर निकलना है।

कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।

कषायों से छुटकारा पा लेना ही मुक्ति पा लेना है। कषाय-विजय के लिए सिद्ध परमात्मा का ध्यान अत्यन्त उपयोगी है। ध्यान ऐसा हो कि उसमें ध्याता और ध्येय का विकल्प न रह जाय।

यदि अन्य देवों के झंझट से बच कर आत्मदेव को ही हम देव समझें और स्वभावदशा में रमण करें तो अवश्य सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः आत्मा ही स्वयं कर्त्ता है, सिद्ध आदि तो निमित्त मात्र हैं।

सकल संसार में आत्मा ही सब से अधिक बलवान् और प्रभावशाली देवता है। वही हमारे लिए सर्वोपरि उपादेय और उपास्य है।

आत्मदेवो भव ।

मुक्ति कहाँ है ? मुक्त किस स्थिति में रहते हैं ? पिता कौन है ? यह और इसी प्रकार की बहुत-सी बातें हैं जिनके विषय में श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य आधार ही क्या है ? जब पुष्प की गंध और मिश्री का स्वाद भी आँखों से नहीं दीखता तो मोक्ष का प्रश्न तो अतीव गंभीर है ।

प्रकृति से सरल होना बड़ों की सेवा करना छोटों से स्नेह करना और अन्दर की ज्योति को अधिकाधिक जगाते रहना यह जीवन की राह है। मैं इन्हीं प्रवृत्तियों को मोक्षमार्ग समझता हूँ ।

कृषिकार अपनी उर्वरा भूमि को सुधार कर उसमें बीज वपन करता है। फल की अभिलाषा से फसल का संरक्षण-संगोपन करता है । भाग्य के भरोसे दाव लगा देता है । मगर समय पर उसे फल की प्राप्ति होती ही है । निर्विघ्नता से बढ़ने वाले पौधे मे फल लगता है यह प्रत्यक्ष सत्य है ।

इसी प्रकार श्रद्धापूर्वक अनुभव एवं ज्ञान-पूर्वक जो साधना करेंगे वे आज नहीं तो कल मोक्ष पाएँगे । खाली गाल बजाने से कोई उपलब्धि होने वाली नहीं है ।

खेत मे अनाज होता है, साथ ही घास भी होता है चतुर किसान फसल की रक्षा हेतु घास हटाता है उसे जड़ से उखाड़ता है। क्योंकि वह फसल के लिए हानिकर है । कहा है—

करसा करसे पहले निनाण
घूमे धाम बाव ने पाणी
पाड धानरो गाले ।

हमारे जीवन की राह निष्कंटक होनी चाहिए । मगर सदा ऐसा ही नहीं होता । जीवन मे कभी-कभी प्रमाद-घास भी उग जाता है । कभी काँटों की राह पर भी चलना पड़ता है । जो धुन के पक्के हैं वे काँटो पर विजय प्राप्त करते हैं और आगे बढ़ते हैं ।

घास खाद और पानी को चूसता है धान्य की जड़ों को दबाता है धान्य को पीला-निस्सत्त्व बना देता है इसी प्रकार प्रमाद जीवन-रस को चूसता है और उसे खोखला बना देता है । प्रमाद पाँच हैं—

मज्जं विसयकसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥

(१) मद (२) इन्द्रियों के विषय (३) कषाय (४) निद्रा और (५) विकथा यह पाँच प्रमाद जीव को जन्म-मरण के चक्कर में डालते हैं।

मोटर-साइकिल की तरह इन प्रमादों के द्वारा जीवन का 'एक्सिडेंट' हो जाता है। इनसे बचते रहना सबसे बड़ी साधुता है।

सम्य श्रद्धालु वही है जो बुद्धिमत्ता से शास्त्रीय आधार व व्यवहार के सहारे अपना एक लक्ष्य स्थिर करले और अन्तिम श्वास तक उसी की पूर्ति में दत्तचित्त रहे। भलीभाँति सोच-समझ कर लक्ष्य स्थिर करने के बाद उस पर डटा रहे। क्षण भर के लिए भी चलायमान न हो। आँधी आए या तूफान डिगा न सके।

लक्ष्य स्थिर किये बिना मनुष्य कार-कटे पतंग की भाँति भटकता है। भगवान् महावीर के १४० ० मुनियों का जो लक्ष्य था वही आज हमारा है। पच्चीस हजार वर्षों से जो दिनचर्या यहाँ चली आ रही है उसी को अधिक महत्त्व देना है। इसी में हमने कल्याण माना है। इसके अतिरिक्त कल्याण का दूसरा कोई मार्ग नहीं है -

इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं.............सद्दहामि जाव पालेमि.......
समणोऽहं संजय विरय.............

—आवश्यक सूत्र।

यह हमारी श्रद्धा की नींव है आधारशिला है। तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा कथित निग्र्न्थप्रवचन सच्चा है। मैं उस पर श्रद्धा रखता हूँ। वह मुझे रुचिकर है। उस पर मेरी पूरी प्रतीति है। मैं उसी को अपने आचरण में लाता हूँ—पालने का प्रयत्न करता हूँ क्योंकि मैं श्रमण हूँ संयमी हूँ और संसार से विरक्त वती हूँ।

यह मेरा जीवनव्यापी सिद्धान्त है।

समय परिवर्तनशील है इस कारण इतिहास भी करवट बदलता रहता है मगर वस्तु-स्वभाव अपरिवर्तनशील है। ईख की मधुरता और नीम की कटुता नहीं बदलती। इसी प्रकार आत्मा का जो आधार सत्य है और उस तक पहुँचने का जो पथ है वह कभी बदला नहीं बदलता नहीं बदलेगा नहीं। यही दर्शनों का निर्णय है और इसी का सार समझ कर मैंने अपना निर्णय बनाया है।

जीवन के प्रति वफादारी

जब तक हृदय का संकल्प प्रबल अटल नहीं होता हृदय की पुकार प्रबल नहीं होती तब तक मनुष्य प्रमाद एवं मोह के बन्धनों को तोड़ने में समर्थ नहीं होता अतएव जीवन के प्रति असाधारण निष्ठा की आवश्यकता है। जीवन की सफलता के लिए डिग्री की अपेक्षा शिक्षा की अधिक आवश्यकता है।

साधक की अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षावृत्ति उसकी आत्मा को मलीन करती है और उसकी यश-कीर्ति को धब्बा लगा देती है

पुरुषार्थ वफादारी का अंग माना गया है। पुरुषार्थ के अभाव मे वफादारी का निर्वाह नहीं हो सकता।

निष्ठा-पथ से भ्रष्ट होने पर जीवन मे चंचलता आ जाती है। फिर मनुष्य बावला बन अनर्गल बातें करता है और युग की दुहाई देता हुआ कहता है—

हम सत की धज्जी उड़ाएंगे।
अमा-निशा को न्यौता देकर राका को हटवाएंगे
झूठ-कपट से प्रेम करेंगे सच्चे को पिटवाएंगे।
कागजों की घुड़दौड़ी मे कोई काम न होने पाएंगे
अपना उल्लू सीधा करने में सारा समय बिताएंगे॥ १॥

इस अनर्गल प्रलाप मे भी वर्त्तमान युग का चित्र है। मगर इस प्रकार की प्रवृत्ति उन्मत्तता को सूचित करती है। मनुष्य मे इस प्रकार का उन्माद क्यों उत्पन्न होता है? सत्य की डोर हाथ में न होना ही इसका कारण है। जिसने मजबूती के साथ सत्य की डोर अपने हाथ में पकड़ रक्खी है उसके मानस मे ऐसा उन्माद उत्पन्न नहीं होता।

ऐसे उन्मादी जन बहुधा रेल से कटते हैं घर-परिवार छोड़ भाग निकलते हैं या नेतृत्व का डंका बजा कर राष्ट्र और समाज को उलटी राह पर ले जाते हैं। उनमें जीवन के प्रति वफादारी नहीं होती।

गली या बंगले का स्थान रोटी का एक टुकड़ा पाकर पहरेदार का काम करता है। समय पर जान देकर भी अपना कर्तव्य अदा करता है। वह वफादारी का जीवित पुतला है।

चित्तौड़ के अमरकीर्ति किले में तेरह हजार वीरांगनाएं जिंदी ही जल गई। अपने कुल और शील के प्रति वफादारी से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

गजसुकुमार! तीन खंड के नाथ श्रीकृष्ण का लाड़ला लघुभ्राता! सोने के पालने में झूला था और प्यार में पला था। कैसी कोमल काया थी उनकी! जवानी पूरी आ भी नहीं पाई थी कि योगी बन कर भयानक श्मशान भूमि में जाकर अचल खड़ा हो गया। मस्तक जला पर मुँह से आह न निकली। वह था जैनधर्म-आत्मधर्म का वफादार वीर पुरुष।

अभी बहुत काल नहीं बीता है श्री धर्मदासजी महाराज ने धर्म का नाम उज्ज्वल रखने के लिए स्वस्थ अवस्था में ही अन्न-जल का त्याग कर दिया था।

एक बार लक्ष्य स्थिर हो जाना चाहिए और उसके प्रति वफादारी का भाव जागृत रहना चाहिए। फिर उसकी पूर्ति की साधना स्वतः निर्मित हो जाती है।

जलौका पानी का जन्तु है। वह किसी को चिपट जाती है और बिना खून पिए नहीं छूटती। भर पेट खून पीकर स्वतः छूट जाती है। यह उसका स्वभाव है।

इस प्रकार किसी कार्य में जी जान से लग जाना ही निष्ठा है। गांधीजी देश को स्वाधीन बनाने में लगे। सम्पूर्ण शक्ति से गोरों से लड़ते रहे। आखिर उनके बिस्तर गोल हो ही गए।

हमारा जीवन सब से अधिक महंगा और श्रेष्ठ है। इसे अच्छी राह पर लगाने और इसका सत्कार-सम्मान करने में ही हमारी शोभा है।

संस्कृत भाषा में एक 'बहुधनी' शब्द है। इसका अर्थ है—जिस पुरुष की पत्नी 'अर्भात्सुन्दरी शशिसोमानना वक्रतिर्यग्नयना सुमध्या चारुसुगमा गामिनी' (मालामूल) अर्थात् एड़ी से चोटी तक सुन्दर शरीर वाली, चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाली, शान्त-प्रियभाषिणी, सुन्दर पतली कमर वाली, मृदु हावों-भावों वाली हो वह बहुधनी कहलाता है।

और इसी प्रकार जीवन-धन रूपी लक्ष्मी का जो यथार्थ उपयोग करता हुआ हर प्रकार से उसकी रक्षा करता है उसे भी बहुधन कहना चाहिए।

वस्तुतः जो सर्वांगसुन्दर जीवन-लक्ष्मी का स्वामी है, वही जीवन के प्रति वफादार है।

अभिप्राय यह है कि जीवन के प्रति वफादारी निभाने के लिए मनुष्य को उसका उत्तम से उत्तम अर्थ के लिए उपयोग करना चाहिए। नरदेह अतीव दुर्लभ है। न मालूम किस भव में उपार्जित प्रबल पुण्य के उदय से मानव जीवन की प्राप्ति हो सकी है। यह जीवन यदि यों ही व्यतीत हो गया तो पता नहीं कब पुनः प्राप्त होगा? और यह निश्चित ही है कि मनुष्य जीवन के बिना उत्तमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव इस कल्पतरु के सदृश जीवन को तुच्छ, क्षणिक और निस्सार भोगविलासों में व्यतीत नहीं करना चाहिए। आशा और तृष्णा के असीम प्रवाह में बह कर नष्ट नहीं करना चाहिए। पेट पूर्ति में ही समाप्त नहीं कर देना चाहिए।

इस कल्याण-साधन जीवन को निरन्तर निर्मल बनाते हुए देश समाज जाति धर्म और सर्वोपरि आत्म-कल्याण के लिए उपयोग में लाना चाहिए। सेवा में भावपूर्वक स्थिर करना चाहिए। स्व-परकल्याण में सच्चे आनन्द का अनुभव करना ही जीवन के प्रति सच्ची वफादारी है।

हंसबुद्धि से पथ और धर्म के भेद को समझ कर शुद्ध धर्म-पथ का अवलम्बन करके ज्ञान दर्शन चारित्र में आगे बढ़ने के लिए अशुद्ध खान-पान बोल-व्यवहार से बचकर, चारु दिनचर्या निश्चित करना चाहिए। यही जीवन की सच्ची राह है।

दान का महत्त्व

महाश्रमण भगवान् महावीर ने धर्म को द्वीप के समान कहा है। अनादि से चले आने वाले जन्म-मरण रूप संसार को विराट् समुद्र की उपमा दी है। समुद्र पर उड़ान भरने वाले हंस बक आदि विहंगमों का आधार द्वीप है।

यह यथार्थ रूपक है। द्वीप के बिना खेचरों एवं भूचरों का जीवन स्थिर नहीं हो सकता। समुद्र में एक नहीं, अनेक द्वीप होते हैं। संसार-सागर में द्वीप के सदृश चार धर्म हैं—दान, शील, तप और भावना। पहले दान के विषय में विचार कर लें।

आचार धर्म है तो विचार दर्शन है। दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, निरपेक्ष नहीं। विचार आचार को प्रभावित करता है तो आचार द्वारा विचार की व्यञ्जना होती है। अतएव जीवन के उत्थान के लिए दोनों का स्तर एक-सा होना चाहिए और वह उच्च कोटि का होना चाहिए।

गृहस्थ के आचार में दान का स्थान महत्त्वपूर्ण है। परन्तु दान भी अनेक प्रकार के हैं। शास्त्रकार कहते हैं—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

अनेकविध दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।

हिन्दू जाति में मृत्युभोज की परम्परा आज भी प्रचलित है। वह मृतक के पीछे दान माना जाता है। मुहम्मद साहब कहते हैं—किसी भी व्यक्ति के मरणासन्न होने पर भी स्वर्ण-खण्ड दान करने की अपेक्षा जीवनकाल में एक रजत-खण्ड का दान श्रेष्ठ है।

मृत्युभोज की पृष्ठभूमि में जो भावना निहित है वह स्वयं अज्ञान सूचक है। मृतक के साथ उसका कोई सरोकार नहीं है। मृतक की आत्मा तत्काल ही स्वकृत कर्म-संस्कार के अनुसार गति प्राप्त कर लेती है। उसके निमित्त किये गये भोज से उसे तृप्ति नहीं हो सकती।

दान का शब्दार्थ देना है और वह मुख्य रूप से दस निमित्तों से दिया जाता है अतएव दान भी दस प्रकार का कहा गया है। यथा—

१—दीन-हीन अनाथ प्राणियों को दया से प्रेरित होकर अन्न वस्त्र आदि देना अनुकम्पादान है।
२—अपने देहसुख के लिए देना संग्रहदान है।
३—भयभीत प्राणी के भय का निवारण करना अभयदान है।
४—लज्जा से प्रेरित होकर धर्मा-धर्मी देना लज्जादान है।
५—यश कीर्ति या प्रशंसा के लिए या ऐसे ही किसी अन्य निमित्त से अभिमान पूर्वक दान देना गर्वदान है।
६—मैथुनी वासना से प्रेरित होकर वेश्या आदि को देना अधम दान है।
७—करिष्यतिदान भविष्य में उपकार होने की आशा से दिया जाने वाला दान।
८—कृतदान-भूतकाल में किए हुए उपकार के बदले जो दान दिया जाय।
९—कारुण्यदान-स्वजनवियोग के समय शोक के कारण दिया जाने वाला दान।
१०—धर्मदान-निर्ग्रन्थ एवं समस्त आरंभ-परिग्रह के त्यागी मुनियों को निर्दोष एवं अचित्त आहार पानी औषध आदि का दान करना तथा धर्म के उद्योत के लिए दान देना धर्मदान है।

इनमें से कौन-सा दान कल्याणकारी है कौन-सा अकल्याणकर है और कौन-सा लौकिक व्यवहार मात्र है यह समझना कठिन नहीं है। हाँ इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि जिस दान से स्व-पर का कल्याण होता है अपना ममत्व कम होता है संघ और धर्म का उत्थान होता है और अन्तःकरण में सहृदयजनित प्रमोद्भाव बढ़ता है वही दान कर्तव्य है।

राजा जनक एक बार दान दे रहे थे। याचक सेता हुआ बोला नरनाथ आप दानवीर हैं। आप जैसे दानवीर संसार में विरल ही होंगे। आपका पद-गौरव महान् है। फिर दान देते समय नीचे की ओर क्यों देखते हैं?

जनक धर्मप्रिय थे। वे प्राप्त वैभव का भाग्य की देन समझते थे। अतएव प्रश्नकर्ता से बोले—

देने वाला देता है जो कोई आये देन।
लोग मैं मेरा नाम है या तें नीचे नैन॥

यह है सच्चा दान जिसमें निरभिमानिता भरी हो। जिस दान में अहंकार का विष मिश्रित हो जाता है वह आत्मा का पोषक नहीं होता।

दान में देय, काल और पात्र का विचार अवश्य करना चाहिए। दान की विशेषता इसी चतुराई में है। कहा है—

चतुर नाम चौगुना किया
मूरख मूल गँवाया रे।

जैनागमों में दान की असाधारण महिमा का अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिपादन किया गया है। सुबाहुकुमार और शालिभद्र दान के महत्त्व के सजीव साक्षी हैं।

तपस्वी सुदत्त मुनि एक दिन सुमुख सेठ के घर पधारे। सेठ ने शुद्ध हृदय से दान दिया। उस दान का वर्णन शास्त्र में किया गया है—

तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गाहगसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकए, मणुस्साउए निबद्धे।

—सुखविपाक सूत्र

देय द्रव्य शुद्ध था, दातार के विचार उदार थे, लेने वाले मुनि सुपात्र थे। इस प्रकार तीनों शुद्धियाँ मिल जाने से दान अपूर्व फलप्रद बन गया। दाता ने संसार परीत किया—उसे मुक्ति का प्रमाणपत्र मिल गया और मनुष्यभव की आयु का बन्ध हुआ।

इस प्रकार विशुद्ध हर्षित और उमड़ते हृदय से दिया गया दान अनन्तगुण फल प्रदान करता है।

आज भी दाताओं की कमी नहीं है। विभिन्न प्रकार की रुचि वाले दाता अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप दान देते रहते हैं। मगर प्राचीन काल में इस देश में जो सामाजिक ढांचा था, वह आज नहीं रहा है। अतएव दान के रूप में भी काफी कुछ परिवर्तन हो गया है। प्राचीन काल में अनाथालय-भवन की कोई आवश्यकता नहीं थी। गुरुकुल और छात्रावास जैसी संस्थाएँ नहीं थीं। कुछ विद्यार्थी गुरु के घर रह कर उनका अध्ययन और प्रसार करते थे। उनके लिए अलग कोई व्यवस्था नहीं थी। अभिप्राय यह है कि आज दान के जैसे नवीन क्षेत्र विकसित हुए हैं, वह पहले नहीं थे। मगर आज दान की व्यवस्था भी उतनी सुन्दर नहीं रह गई है।

सर्वप्रथम देय द्रव्य की शुद्धि का ही विचार कीजिए। आज जो बड़ी बड़ी धनराशियाँ दान में दी जाती हैं, उनमें कितनी ऐसी होंगी जो न्यायपूर्वक

उपार्जित द्रव्य में से की गई हों ? लोगों का खयाल है कि अधिकांश दान में दिया जाने वाला धन काले बाजार का सट्टे का, सूदखोरी का या करों की चोरी का होता है। अतएव वह न दाता के लिए और न आदाता के लिए उतना लाभप्रद होता है जितना होना चाहिए।

बहुत-से दाताओं को यह विवेक नहीं होता कि दान का वास्तविक पात्र कौन है ? आज धर्म के नाम पर दिया गया करोड़ों का धन बेकार पड़ा है। उसका कोई सदुपयोग नहीं होता। उसके संरक्षक (या ट्रस्टी) मनचाहा उसका निजी उपयोग करते हैं और जब उनके स्वार्थ टकराते हैं तो परस्पर संघर्ष होता है। कहीं-कहीं उचित संरक्षण न होने के कारण बड़ी-बड़ी रकमें बर्बाद हो जाती है।

इसका आशय यह न समझा जाय कि सर्वत्र अव्यवस्था—ही अव्यवस्था है। आज भी कोई-कोई दाता सच्ची त्यागभावना से दान देते हैं और उनके दान का सदुपयोग भी होता है। आज साहित्यसर्जन में बहुत-सा व्यय होता है और उसे निरर्थक नहीं कहा जा सकता। समाज में कई उपयोगी संस्थाएं चल रही हैं जिनका कार्य महत्त्वपूर्ण है और उनको दिया दान उपयोगी सिद्ध होता है।

दान के बिना समाज का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि वह दूसरों का सहायक और उपकारक बने। पारस्परिक सहायता से सभी मनुष्यों को सुविधा होती है। पर दान का पारमार्थिक और बड़ा लाभ दाता को यह होता है कि उसका ममत्व कम होता है और ममत्व कम होने से आत्मा में निराकुलता की वृद्धि होती है।

इस प्रकार दानधर्म लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से कल्याणकारी है अतएव उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए।

होंगे दयाल तो देंगे बुलाय के
सिमे कौन जायगा देने घर जाय के।

शील

'संसार की सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक ज्ञान रचनाएं प्रायः ब्रह्मचारी लेखकों की लेखनी से ही निसृत हुई हैं।' —बेकन।

'ब्रह्मचर्य परं तपः' अर्थात् ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है। मानव जीवन की सर्वोत्तम खाद है।

वास्तव में शील का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सदाचार शील है। इन्द्रिय निग्रह शील है। जीवन में किया जाने वाला प्रत्येक सद्व्यवहार शील के अन्तर्गत है। वासनाओं पर विजय पाना और आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करना भी शील है। चंचल अश्व के समान मन को वश में करना शील है। तथापि शील शब्द से मुख्यतया ब्रह्मचर्य का बोध होता है।

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ भी व्यापक है। पांच इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय का निग्रह करके ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या-रमण होना ब्रह्मचर्य है। तथापि उसका व्यावहारिक अर्थ वीर्यरक्षा करना है। एक महर्षि ने बड़ा सुन्दर कहा है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

यदि ब्रह्मचर्य जीवन है तो वीर्यविनाश मृत्यु है। खेद है कि आज आर्य-भूमि भारत में भी कुछ लोग ऐसा सोचने लगे हैं कि ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु भारत के प्राचीन मनीषी साधकों ने एक स्वर से ब्रह्मचर्य की महत्ता स्वीकार की है और इसे व्यक्तिगत जीवन में व्यवहृत करके दिव्य लब्धियां उपार्जित की हैं। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता वह उसके महत्त्व को समझ भी नहीं सकता। ब्रह्मचर्य से होने वाले लाभ को ब्रह्मचारी ही अनुभव कर सकता है।

तप अनेक प्रकार के हैं और वह सब उत्तम हैं परन्तु ब्रह्मचर्य तप इन सब में महान् है—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।

ब्रह्मचर्य की लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से असाधारण उपयोगिता है। मानव-शरीर वीर्य की शक्ति से टिकता है और निसर्ग के आघातों को सहन करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचारी पुरुष का ललाट सूर्य के समान तेजोदीप्त होता है। उसके नेत्रों की ज्योति अपूर्व होती है। उसका समस्त शरीर शक्तिसम्पन्न और सुदृढ़ होता है।

इसके विपरीत जो अभागे अपने जीवनाधार को नष्ट कर देते हैं विलासिता की भीषण ज्वालाओं में वीर्य को होम देते हैं, उनकी दशा अत्यन्त ही दयनीय होती है। उनका चेहरा निस्तेज आँखें धँसी हुई एवं गाल पिचके हुए होते हैं। वे दुर्बल होने के कारण प्रकृति के साधारण-से आघात को भी सहन नहीं कर सकते और नाना प्रकार की व्याधियों के शिकार होते देखे जाते हैं।

अनगार मुनियों के लिए तो ब्रह्मचर्य अनिवार्य ही है गृहस्थों को भी अपनी मर्यादा के अनुसार इस व्रत की आराधना करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की आराधना के लिए शास्त्रों में अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं। कहा है—

न रूवलावण्ण विलासहासं
न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी।

यह है ब्रह्मचर्य साधना की विधि। सतर्कता इस शिक्षा पर साधक का ध्यान रहे तो वह भुलावे में नहीं पड़ेगा। क्योंकि अनुकूल परीषह में अधिक सावधानी चाहिए। पानी-कीचड़ वाले समतल भूभाग पर हाथी के फिसलने का ज्यादा खतरा रहता है।

साधु के लिए जैनधर्म में नौ बाड़ों का विधान है। वे ब्रह्मचर्यरक्षा के नौ उपाय हैं यथा—

(१) निवासस्थान में पशु, पण्डक और नारी न हो।
(२) विकथाएं न की जाएँ।
(३) जहाँ नारी बैठी हो वहाँ उसके उठ जाने पर भी दो घड़ी तक न बैठना।
(४) विकारदृष्टि से अंगोपांगों को न देखना।
(५) दम्पती के हास-परिहास शब्दों को न सुनना। उनके पास न ठहरना।

(६) पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण न करना।
(७) विकारजनक भोजन न करना।
(८) मर्यादित खुराक से अधिक भोजन न करना।
(९) वेशभूषा में सादगी रखना।

शील के बचाव के हेतु उक्त मर्यादाओं का पालन आवश्यक है।

शील का महत्त्व बतलाते हुए कहा है—

> शील की सुगंध साधु सन्त नरेन्द्र सुर
> मोरमा बावीस जिनराज दरसाई है।
> नग होवे गजा सम सिंह होवे स्याल सम
> अहि फूलमाला अग्नि सीतलाई है।
> सागर मार्ग होय विष जो अमृत होय
> मेरु स्यावत होय ऐसा शील सुखदाई है।
> कहत हजारीमल प्राणी वचनों के बल,
> शील को सुयश पुष्पदन्त हो समाई है॥

शील धर्म की रीढ़ की हड्डी है। देव दानव मानव शीलवानों के सम्मुख नतमस्तक होकर रहते हैं। विकाररहित मानव ही शीलवान् होता है।

विकार का बाण अत्यन्त तीखा होता है। बड़े से बड़े वीर योद्धा इस बाण से घायल होकर नारी के दास बन गये। कवि कालीदास के कथनानुसार आहत होकर महादेव बोले—

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः।

पार्वतीजी का हाव-भाव देख कामि देख वे बोले—हे सुन्दरी! आज से मैं तेरा दास हूँ।

यह है भोगेच्छा! मानवलोक के प्राणी जीवनपर्यन्त कामनाओं के जाल में फँसे रहते हैं।

नन्दिषेण उग्रतपस्वी था। एक वेश्या के घर आकर उसका प्रेमी बन गया। वर्षों उसके मोह में डूबा रहा। फिर एक दिन जागृत हो गया। गुरु के निकट जाकर मुनि बन गया। तत्पश्चात् उसने उस पूर्वप्रेमिका को उपदेश देते

गया। उसे कुराचार के कीचड़ से बाहर निकाला। आज भी स्थूलिभद्र की गुण गाथा गाई जाती है—

> वेश्या रागवती सदा तदनुगा
> षड्भी रसर्भोजनम्।
> सौधं धाम मनोहरं वपुरहो
> नव्यो वयस्संगम'।
> कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः,
> कामं जिगायादरात्।
> तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं
> श्रीस्थूलिभद्रं मुनिम्॥

सीता और सुभद्रा आदि महान् नारियों की गुणगाथा आज भी भारतीय नर-नारियों की जिह्वा पर अंकित है। उन सदा स्मरणीय सतियों ने शील का पालन करके जगत् के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित किया है।

ब्रह्मचारी का ज्ञान निर्मल विचार पवित्र और आचार शुद्ध होने से उसे अवश्य दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। वह देश और समाज का पूजनीय होता है।

शीलधर्म सदा आराधनीय है।

तप

प्रश्न—तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—तवेणं वोदाणं जणयइ ।

यहाँ प्रश्न किया गया है—भदन्त ! जीव को तप का अनुष्ठान करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर में महावीर स्वामी ने फर्माया—तप से पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय होता है ।

हमें यह देह मिला । कपड़ा भी मिला । रहने को मकान मिला । खाने को अन्न मिला । पीने को पानी मिला । और भी अनेकानेक पदार्थ मिले । पर प्रायः यह सभी वस्तुएँ मलीन हो जाती हैं ।

जब वस्त्र आदि वस्तुएँ मलीन हो जाती हैं तो उन्हें साफ किया जाता है । उन्हें सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न किया जाता है ।

इस देहमन्दिर का देवता जीव है । वह कामनाओं से, मोह-माया से बुरे कर्मों से मलीन होता है । मगर उस को साफ करने की विधि है । वह विधि भगवान् महावीर ने कही है । उसी विधि को हम तप कहते हैं ।

जैनागमों में तप पर विशेष बल दिया गया है और तप को विस्तृत रूप वर्णन किया गया है । साधु हो या साध्वी श्रावक हो या श्राविका सभी के लिए तप आवश्यक है । सब को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार तप करना चाहिए ।

आचार्य उमास्वाति के शब्दों में तप का स्वरूप है—

इच्छानिरोधस्तपः

अर्थात् सब इच्छाओं का निरोध करना तप है । मानव की इच्छाओं का पार नहीं कोई सीमा नहीं । वह आकाश की तरह अनन्त हैं । भगवान् ने कहा—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

इस विराट् तृष्णा की अविरल प्रवाहित होने वाली वेगवती धारा में बहने वाला मनुष्य कहीं स्थिर नहीं हो पाता। वह रात-दिन पचता है, आकुल व्याकुल रहता है, क्षण भर भी शान्ति नहीं पाता। वह इन्द्रियों का दास होता है जब कि इन्द्रियों और मन को वश में करने वाला 'गोस्वामी' बन जाता है।

खान-पान की इच्छा, भोग-विलास की इच्छा, धन धान्य की इच्छा, नाम और प्रतिष्ठा की इच्छा, द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ती ही जाती है। इन इच्छाओं का अन्त करना हमी-खेल नहीं है। बड़े-बड़े नरेन्द्र और सुरेन्द्र इनके दास हैं।

दुनियाँ कामनाओं के वशीभूत है, तथापि यह निश्चित है कि जब तक मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं होता तब तक उसके दुःख का अन्त नहीं आ सकता। भगवान् महावीर ने दुःख के अन्त का नुस्खा बतलाते हुए कहा है—

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

इच्छाओं को पार कर लो तो समझ लो कि दुःख को पार कर लिया। यही सुख का अचूक उपाय है। इसके बिना संसार के मूर्ख-मानव बाह्य पदार्थों को लूटकर भी सुखी होना चाहता है। वह मानो शीतलता प्राप्त करने के लिए आग में कूदना चाहता है।

बाह्य पदार्थ दुःख ही उत्पन्न कर सकते हैं। सुख देना उनका स्वभाव ही नहीं है। सुख तो आत्मा का ही धर्म है। नादान है जो उसे बाह्य पदार्थों में क्यों खोजता फिरता है।

तो इच्छानिरोध करना तप है और यही एक मात्र सुख का उपाय है।

इच्छा का सम्बन्ध मन से है। इच्छाओं का निरोध करने के लिए मन को वशीभूत करना पड़ता है। किन्तु जब तक इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं तब तक मन वशीभूत नहीं हो सकता। अतएव इन्द्रियों का दमन करना भी अनिवार्य है और इस प्रयोजन के लिए शरीर को भी कष्ट देना होता है। शास्त्र में कहा है—

— देहदुक्खं महाफलं।

देह का दमन करना महान् फलप्रद है। मगर देहदमन ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। ज्ञानपूर्वक नवकारसी तप (सूर्योदय से एक घंटा दिन चढ़े तक का) करने से एक हजार वर्ष का नरकायु नष्ट होता है और देवायु की प्राप्ति होती है।

वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य॥

संयम और तपश्चर्या के द्वारा अपनी आत्मा का आप ही दमन करना उत्तम है, जिससे कि बंधन और वध के द्वारा दूसरे हमारी आत्मा का दमन न कर सकें।

नवनीत को आग पर चढ़ा कर घृत बनाया जाता है—उसे तपाना पड़ता है। किन्तु नवनीत को तपाने के लिए पात्र को भी तपाना आवश्यक होता है। इसी प्रकार आत्मा को तपाने के लिए शरीर को तपाना भी अनिवार्य है। जैसे नवनीत का पात्र पार्थिव होता है उसी प्रकार यह शरीर भी पार्थिव ही है। इस शरीर में आत्मा उसी प्रकार व्याप्त है जैसे तिल में तेल या फूल में सुगंध।

जैसे स्वर्ण आग में तपने पर शुद्ध होता है उसी प्रकार तप की अग्नि में आत्मा की शुद्धि होती है। तपस्या से इस भव में और परभव में भी आत्मा का हित होता है।

हमारे समाज में तप करने की परम्परा आज भी प्रचलित है। कितने ही सन्त-सतियाँ श्रावक और श्राविकाएं लम्बे-लम्बे अनशन तप करते हैं। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल आहार के त्याग करने मात्र से उपवास नहीं होता। कषाय और इन्द्रियविषयों का भी आहार के साथ त्याग करना चाहिए। कषाय एवं विषयों का त्याग न किया गया तो वह उपवास लंघन मात्र ही रह जाता है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेय, शेषं लङ्घनकं विदुः॥

लंघन से शरीरशुद्धि हो सकती है मगर उपवास से आत्मशुद्धि होती है।

तप वस्तुतः आत्मा का खरा बल है। भावशुद्धिपूर्वक तप का अनुष्ठान करने से अवश्य आत्मशुद्धि होती है।

भावना भवनाशिनी

दान शील और तप के पश्चात् भावनाधर्म की गणना की जाती है। इसका कारण यह नहीं कि भावना का महत्व कुछ कम आंका गया है। उसे अन्तिम स्थान देने का रहस्य यह है कि भावनाधर्म दान शील और तप में भी व्याप्त होता है। मनुष्य धर्म के किसी भी अंग का अनुष्ठान क्यों न करे यदि उसके साथ भावना का मेल न हुआ तो वह पर्याप्त फल प्रदान नहीं करता बल्कि दिखावा मात्र रह जाता है।

क्रिया का फल भावना के अनुसार ही होता है। साथ ही भावना में स्वयं भी महान् फल प्रदान करने की शक्ति है। दानादि भावना के बिना फलप्रद नहीं होते मगर भावना दानादि के बिना भी अद्भुत चामत्कारिक फल प्रदान करती है। कहा है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

माता मरुदेवी ने कोई क्रिया नहीं की थी न संयम का पालन किया था न दान दिया था और न तपस्या ही की थी। केवल भावना के बल से ही उन्हें हाथी के हौदे पर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था। उन्होंने भावना से ही मोक्ष प्राप्त किया।

मृगापुत्र राजमहल में सुखासन पर आसीन थे। मुनि पर दृष्टि पड़ते ही पूर्वभव की स्मृति जाग उठी। भवचक्र का चिन्तन-मनन किया। जो प्रकाश अन्तर में ओझल हो रहा था वह सामने प्रकट हो गया। प्रशस्त भावना से वही उसी क्षण भावमुनि बन गए।

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ तनय चक्रवर्ती भरत अपने निज राजमहल में विराजमान थे। हाथ में से मुद्रा गिर पड़ी। आभूषण के अभाव में अंगुली शोभा हीन दृष्टिगोचर होने लगी।

भरतजी के चित्त में अपूर्व विचार और उत्कंठा का उन्मेष हुआ। जो समय अब तक कभी न आया था वह आया। एक-एक करके उन्होंने अन्यान्य आभूषण उतारने शुरू किये। बाहर की ओर से हट कर दृष्टि भीतरी बनी। वास्तविकता का बोध हुआ। विरक्ति के सागर में अवगाहन करने लगे।

भावना इतनी बलवती हुई कि तिनके की तरह राजपाट आदि समस्त बाह्य पदार्थों की ममता छूट गई। मोह क्षीण हुआ और कैवल्य प्राप्त कर आत्म स्वरूप में रमण करने लगे।

भोगविलास का कायिक सेवन न करने पर भी मदा दारा से दूर रहने पर भी मन की चंचलता न रुकी और वह विषाम के विष-वारिधि में डूबा रहा तो मवनाश समझो।

कामभोग का सेवन न करने वाले भी यदि कामभोग की अभिलाषा करते हैं तो वे दुर्गति के पात्र बनते हैं—

काने पत्थे माणा अकामा जंति दुग्गइ।

उनकी दुर्गति परभव में तो होनी ही है इस भव में भी होती देखी जाती है। कामियों के शरीर मे गर्मी फूट पड़ती है कामियों का स्वास्थ बढ़ जाता है कई अन्य अनेक प्रकार के गुप्त रोगों से सड़ते और पीड़ित होते हैं। कामवासना मे आयु घटती है। यह एक प्रकार का पागलपन है। इस प्रकार की कुत्सित भावना को सन्मार्ग की ओर मोड़ देने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञानवान पुरुष जानता है कि कामजनित सुख सुख नहीं सुखाभास है। भवभ्रमण का कारण है। घोर दुर्गति और दुर्दशा मे पटकने वाला है। यदि ज्ञान के आलोक से मन पवित्र बन गया तो समझो मनुष्य का निस्तार हो गया।

मन चंगा तो कठौती में गंगा।

विजयकुमार सेठ का लड़का था। उसकी पत्नी का नाम विजयकुमारी था। विवाह से पूर्व एक ने कृष्ण पक्ष में और दूसरे ने शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा की थी। विवाह के पश्चात् जब यह रहस्य प्रकट हुआ तो दोनो ने पवित्र भावना के साथ आजीवन ब्रह्मचर्य पालने का निश्चय कर लिया। वे साथ-साथ रहे पर उनकी भावना कभी मलीन नहीं हुई। वर्षों पर्यन्त परिवारजनों पर यह रहस्य प्रकट नहीं हुआ। अन्त मे दिव्य ज्ञानी मुनि के कहने से जब बात प्रकाश में आई तो उन्होंने गृह त्याग कर संयममय जीवन अंगीकार कर लिया।

वास्तव में भावना जीवन की पवित्रता की जड़ है। उसे प्रशस्त बनाए रखना ही सब से बड़ा धर्म है। उसे प्रशस्त बनाए रखने के लिए साधक को सदा सतर्क रहना होता है और सत्संगति स्वाध्याय तत्त्वचिन्तन आदि में मन को उलझाए रखना होता है।

आचार्य अमितगति के शब्दों में—

> सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
> सदा ममात्मा विदधातु देव॥

प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव धारण करना, गुणवान् पुरुषों को देख कर प्रमोद का अनुभव करना, उनका सत्कार सम्मान करना, दीन दुःखी दरिद्रों पर दयाभाव रखना एवं अपने से विपरीत आचरण करने वालों पर माध्यस्थ भाव रखना पवित्र भावना है। साधक प्रभु से प्रार्थना है कि—हे नाथ! मेरे अन्तःकरण में यह भावनाएं सदा निवास करती रहें।

देश में समाज में एवं परिवार में सुख-शान्ति बनी रहे, मैं धार्मिक क्षेत्र में गुणात्मक विकास करूं, मेरे अन्तःकरण में कदापि कल्मष न आने पाए, इस प्रकार की भावना भवनाशिनी होती है।

साधक जब साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है तो उसे भारी परिश्रम करना पड़ता है। ऊसर भूमि को उर्वरा रूप में परिणत करने में किसान को क्या कम श्रम होता है? वह उसे बार-बार जोतता है और हताश हुए बिना निरन्तर पूरी लगन के साथ जुट कर अन्ततः उसे उर्वरा भूमि बना कर ही दम लेता है। इसी प्रकार बार-बार की असफलता से भी निराश न होने वाला साधक अपने प्रबल पुरुषार्थ से अपने चित्त का विशोधन करने में सफल हो जाता है।

मानव-जीवन का सर्वोपरि ध्येय प्रशस्त भावना के साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करना होना चाहिए। जो भव्य प्राणी अपनी भावना को पवित्र बनाएंगे और बनाए रखेंगे उनका निस्सन्देह महान् कल्याण होगा।

जीव का परभव

एवं धम्म पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

—उत्तरा अ १९, गा २२

धर्मीश्वर मृगापुत्र ने माता-पिता के सम्मुख नम्रतापूर्वक कहा—अम्ब तात ! जो मानव पाथेय लेकर लम्बी यात्रा करता है उसे मार्ग में कष्ट नही झेलना पड़ता । इसी प्रकार जो जीव धर्म का आचरण करके धार्मिकता का पाथेय साथ बाँध कर परभव की लम्बी-यात्रा पर प्रयाण करता है वह कर्मरहित और वेदनाविहीन होकर सुखी होता है ।

समग्र संसार जन्म मरण आधि व्याधि उपाधि आदि की भीषण ज्वालाओं से झुलस रहा है कराह रहा है परन्तु आश्चर्य है कि वह उससे बाहर निकलने का प्रयास नही करता । बहुतेरे लोग तो ऐसे भी है जो आत्मा का पुनर्जन्म ही नहीं मानते । किन्तु दीर्घकाल पर्यन्त तपश्चरण करके ज्ञान प्राप्त करने वाले महात्माओं मे दो मत नही हैं । उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा है—परलोक है और परलोक मे जाना होगा । हमे श्रद्धापूर्वक उनके अनुभव का लाभ उठाना चाहिए । एक महात्मा कहते हैं—

इण भव की चिन्ता करी परभव की नही विचारी रे ।
प्राणी ! थे पाप कर्म किया घणा नही किया धर्म लिगारो रे ॥

यह सुनिश्चित है कि हम जिस घर मे बैठे है वह हम से पृथक् है । ठीक इसी प्रकार अपना यह शरीर हम (जीव) से न्यारा है अस्थायी है सड़ने-गलने एवं विध्वस्त होने वाला है, परिवर्तनशील है । हम आने-जाने वाले मुसाफिर हैं अमर हैं, तीनों लोकों में परिभ्रमण करने वाले हैं ।

शरीर धर्मशाला है । इसमे कुछ समय टिकेंगे और आगे की राह पकड़ेंगे ।

केशी स्वामी ने कहा—

अन्नो जीवो अन्नं सरीरं।
नो तज्जीवो तं सरीरं।

जीव अन्य है शरीर अन्य है। जीव शरीरमय नहीं है।

समस्त संसार जीवों से संकुल है। ये जीव चार गतियों में विभक्त हैं और उनमें नाना पर्यायों को धारण करते हैं। आयुष्य कर्म के अनुसार प्राप्त पर्याय में रहते हुए हम लाखों करोड़ों वर्षों से—अनादि काल से गेंद की तरह टकराते आ रहे हैं। इस विराट् विश्व में कहीं स्थिर बने रहने की जगह नहीं है। अमर कहलाने वाले देवता भी मरते हैं तो 'मर्त्य' का कहना ही क्या है!

'असंखेज्जवासा......छम्मासा वसेसाउया परभवियाउयं पकरंति।
(पन्नवणा)

जो जीव असंख्यात वर्षों की आयु वाले हैं, वे उस समय परभव का आयु का बंध करते हैं जब उनकी वर्तमान आयु छह महीना शेष रह जाती है। आयु पूर्ण होने पर जीव अपने स्थूल शरीर का त्याग कर देता है और परभव में जाता है। वह तीर की तरह हजारों-लाखों योजन तक जा सकता है। अपने गन्तव्य स्थान के अनुसार कभी-कभी उसे मुड़ना भी पड़ता है। मगर संसार की कोई भी दीवार उसे गति करने से रोक नहीं सकती। वह पृथ्वी का भेद कर जा सकता है। शिला या पर्वत उसकी गति का प्रतिघात नहीं कर सकता। जहाँ जाना है अप्रतिहत गति से चला जाता है।

आप्त पुरुषों की वाणी से यह स्पष्ट है कि जीव परभव में जाता है। मगर वहाँ जाने पर उसकी क्या स्थिति होती है यह अनुमानगम्य है। हाथ कंगन की तरह प्रत्यक्ष रूप से परभव को केवल भगवान् भी नहीं दिखला सकते हैं। फिर भी शब्दों द्वारा जितना दिखलाया जा सकता है उतना दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।

वर्तमान शरीर का त्याग करके नवीन उत्पत्तिस्थान तक जाने का काल अत्यन्त सूक्ष्म है। एक दो तीन या अधिक से अधिक चार समय में ही जीव अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है। भगवान् कहते हैं—स्वर्ग से च्युत होने से पहले मैं जानता था कि च्युत होऊँगा और किस स्थान को छोड़ कर जन्म लूँगा। जन्म हो जाने पर जान लिया कि मैं यहाँ आ गया हूँ। मगर च्यवमाने

न जाणइ' स्वर्ग से आते समय मार्ग में यह नहीं जान सका कि मैं स्वर्ग से मर्त्य लोक में आ रहा हूँ।

इसका कारण यही है कि उपयोग लगाने में अन्तमुहूर्त का समय लग जाता है, जब कि आने में एक-दो-तीन समय ही लगते हैं।

आशय यह है कि पूर्वशरीर को त्याग कर नवीन शरीर को ग्रहण करने के स्थान पर जीव बड़ी ही त्वरा के साथ जाता है। वहाँ पहुँचने पर कार्मणशरीर की बदौलत जो हर समय जीव के साथ रहता है जीव अपने नवीन जीवन के अनुरूप शरीर का निर्माण करने के लिए पुद्गलों को ग्रहण करता है। उसी समय शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा एवं मन के योग्य पुद्गलों को भी ग्रहण करना प्रारंभ कर देता है। तत्पश्चात् अनुक्रम से अपना पूरा ढाँचा खड़ा कर लेता है।

तजस और कार्मण शरीर जीव के साथ अनादि काल से है। मनुष्यों और तिर्यचों का औदारिक तथा देवों-नारकों का वैक्रिय-शरीर बनता है और भव के अन्त में छूट जाता है।

इस प्रकार जीव एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे भव में आता-जाता रहता है। अनादिकाल से जन्म-मरण का यह प्रवाह चल रहा है।

कुएँ का पानी कहीं से आया है और फिर कहीं जा रहा है। वह न शून्य से बना है न शून्य बनेगा। ठीक इसी प्रकार जीव किसी अज्ञात स्थान से आया है और किसी अज्ञात स्थान पर जाने वाला है। उसकी जीवनधारा की न आदि है न अन्त है। जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक जन्म-मरण की धारा प्रवाहित होती रहेगी।

छोटे-छोटे स्थान असख्य है। इनमें मानवभव एक विशाल चौराहा है। इस पर आने के १६३ में से २७६ मार्ग हैं और जाने के लिए सभी स्थान खुले हैं। मोक्ष का अधिकारी मानव ही है। सर्वार्थसिद्ध विमान में जाने का अधिकारी भी मानव ही है। मगर उसके लिए बहुत बड़ी करनी की आवश्यकता है। सर्वार्थसिद्ध विमान एक मनुष्य को एक ही बार मिलता है। क्योंकि वहाँ से निकलने पर अगले जन्म में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

देवगति का जीव सीधा नरक मे नही जाता और नरकगति से निकला जीव सीधा देवगति में नहीं जाता। इन दोनों गतियों म अकालमृत्यु नही होती। मनुष्य और तिर्यंचगति में अकालमृत्यु भी हो सकती है।

इस असीम अनन्त आकाश में चौदह राजू प्रमाण लोकाकाश है। इसमें समस्त जड़-चेतन पदार्थराशि समाई हुई है। लोक के तीन खण्ड है जो ऊर्ध्व लोक मध्यलोक और अधोलोक कहलाते हैं।

हम मध्य लोक के वासी है। इस पृथ्वी के नीचे अनुक्रम मे सात नरक-भूमियाँ हैं। पृथ्वी मे नौ सौ योजन की ऊचाई तक मध्यलोक की सीमा है। चन्द्रमा सूर्य ग्रह नक्षत्र तथा तारे मध्यलोक मे ही है। उनसे ऊपर ऊर्ध्वलोक है जहाँ वैमानिक देवों का निवास है। बारह देवलोक है उनके ऊपर भी ग्रैवेयक और उनके भी ऊपर पाँच अनुत्तर विमान है। सर्वार्थसिद्ध विमान सब से ऊपर है। सर्वार्थसिद्ध विमान से ऊपर सिद्धशिला है जहाँ मुक्तात्मा विराजमान रहते है।

जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है मनुष्य में ही इतनी क्षमता है कि वह सर्वत्र जा सकता है। मर्त्य के सिवाय सातवें नरक मे कोई तिर्यंच नहीं जाता। मानवस्त्री भी छठे नरक से आगे नही जाती।

'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' अर्थात् जो कर्म करने मे शक्तिमान् होता है वह धर्म करने में भी शक्तिमान् होता है। आखिर शक्ति तो शक्ति है उसका प्रत्येक क्षेत्र मे उपयोग किया जा सकता है। जिसकी जैसी भावना होगी वह वैसा ही उसका उपयोग करेगा। अगर शक्ति ही न हुई तो वह न विशिष्ट धर्म कर सकता है, न कर्म कर सकता है। मनुष्य में असाधारण क्षमता है अतएव वह सातवें नरक में भी जा सकता है और मोक्ष मे भी।

ससार मे सर्वोपरि पवित्र परमपूज्य तीर्थंकर देव हैं। नरक और स्वर्ग से निकल कर ही तीर्थंकर होते हैं मनुष्य और तिर्यंच गति से नही। मगर मनुष्य भव पाये विना तीर्थंकर पदवी नही मिलती।

चींटी हो या कुंजर, आत्मा सब की समान है। स्वभाव समान है। गति कर्मानुसारिणी है। जीव अजर, अमर, अविनाशी है। शरीर नाव है तो जीव नाविक है। नाव जड़ पदार्थ है नाशवान् है। भगवान् महावीर का यह पवित्र घोषणा है—

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ॥

यह संसार समुद्र है जिसमें शरीर रूपी नौका पर आरूढ़ जीव रूपी नाविक परिभ्रमण कर रहा है।

जीव दो प्रकार के हैं—'संसारिणो मुक्ताश्च। अर्थात् संसारी और सिद्ध। सिद्धों के लिए न नाव है और न समुद्र। वे संसार से पार हो चुके हैं। कर्मवर्गणा जिनके पीछे लगी हैं वे संसारी हैं। वही जन्म-मरण करते हुए तीनों लोकों में परिभ्रमण कर रहे हैं।

जैसे नौका समुद्र पार करने का हेतु होती है उसी प्रकार संसार से पार होने के लिए यह शरीर मिला है। मगर भुलावे में पड़ा जीव भटक जाता है। हाँ जो महात्मा हैं वासनाओं की आग बुझाना जानते हैं सार-असार का भेद समझते हैं और सार स्वरूप को जानते हैं वे संसार से मुक्त हो कृतार्थ हो जाते हैं।

यह जीव अनादि काल से चारों गतियों में भटक रहा है। लोक के असंख्य प्रदेशों में से एक भी प्रदेश ऐसा नहीं जिस प्रदेश जीव ने अनन्त-अनन्त बार स्पर्श न किया हो। फिर भी भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। आज मनुष्य को उसके अन्त करने की दिशा में अग्रसर होने का अवसर मिला है। इस अवसर का जो सदुपयोग कर सका वही शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकेगा।

नीचे धरती ऊपर आकाश

मानवीय मगस का मूल मंत्र है ममत्वबर्जन। ममत्व (मेरापन) अपराध इसलिए कि संसार भर में मेरा कुछ भी नहीं है। इह भव में माता पिता पत्नी पुत्र परिजन धन धान्य धरा धाम आदि में जीव का ममत्व रहता है मगर अन्ततोगत्वा वे अपने होते नहीं।

अपना क्या है? पराया क्या है? इसका निर्णय करने की कसौटी यही है कि जो वस्तु त्रिकाल में भी हमसे पृथक न हो वही वास्तव में हमारी है। जो वस्तु मिलती और फिर बिछुड़ जाती है वह वास्तव में अपनी नहीं पराई है। जो जिसकी असली सम्पत्ति है वह उससे कदापि न्यारी नहीं हो सकती।

इस कसौटी पर कसिए तो स्पष्ट विदित होगा कि आत्मा का असली धन उसका चैतन्यस्वभाव ही है अन्य कुछ भी नहीं। शेष सब पर पदार्थ हैं और उनके सम्पर्क से उन्हें अपना समझने से ही समस्त दुःखों का प्रादुर्भाव होता है।

इस प्रकार के पारमार्थिक चिन्तन से तत्त्वबोध होता है ममता और तृष्णा घटती है और शान्ति उत्पन्न होती है। इसी हेतु शास्त्रकारों ने बारह भावनाओं का विधान किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) अनित्य भावना—जीवन क्षणभंगुर है शरीर नाशवान है परसंयोग स्थायी नहीं है। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है। आयु बिजली की चमक के समान है। इस प्रकार अनित्यता का चिन्तन करना अनित्यभावना है। भरत महाराज ने इसका चिन्तन किया था।

(२) अशरण भावना—एक करोड़ इक्कहत्तर लाख ग्रामों का अधिपति मगधसम्राट् श्रेणिक मुनि से बोला—हे मुने! चलो मैं आपका नाथ बनता हूँ। तब मुनिराज बोले—राजन्! तू स्वयं अनाथ है, मेरा नाथ किस प्रकार बनेगा? यह सुन राजा विस्मित हुआ फिर सनाथ अनाथ का मर्म समझा।

वास्तव में कोई किसी को मरण से नहीं बचा सकता। अतएव कोई किसी के लिए शरणभूत नहीं है।

( ) संसार भावना—मल्ली कुमारी ने छह राजाओं से कहा—जगत् के सब जीवों के साथ तुम्हारा संबंध हो चुका है। अनन्त जन्म-मरण कर सारे संसार में भटके हो। संसार के स्वरूप को समझो। इस प्रकार का चिन्तन संसार भावना है।

(४) एकत्व भावना—सुग्रीव नगर के राजकुमार अपनी प्रियाओं के बीच विलासभवन में बैठे थे। अकस्मात् मार्ग चलते मुनियों पर उनकी दृष्टि पड़ गई। जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ और मुनि बन गए। एकाकी रह कर आत्मकल्याण किया। इस प्रकार आत्मा के एकाकीपन का विचार करना अर्थात् यह सोचना कि यह जीव अकेला ही जन्म लेता है अकेला ही मरता है अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है एकत्वभावना है।

(५) अन्यत्वभावना—जगत् के पदार्थों से आत्मा को भिन्न समझना एवं पुनः पुनः ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वभावना है। नमि राजर्षि से सोचा था कि जहाँ परिवार है प्रपंच है वहीं गड़बड़ है अशान्ति है।

(६) अशुचित्व भावना—सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दर्पण के आगे अपने रूपसौन्दर्य का अभिमान किया। फल यह हुआ कि ७०० वर्ष पर्यन्त उनके शरीर में कीड़े पड़ते रहे। उस व्याधि से विरक्त होकर चक्रवर्ती ने सोचा—आह यह शरीर कितना बीभत्स है! कितना अशुचि है! उत्तम से उत्तम पदार्थ खाये-पीये मगर इस शरीर के सम्पर्क से वे भी अपावन बन गए! इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वभावना है।

(७) आस्रवभावना—भिन्न-भिन्न कारणों से कर्मों का आत्मा में आगमन होता है ऐसा चिन्तन करना आस्रवभावना है।

(८) संवरभावना—कर्मास्रव के निरोध के कारणों का चिन्तन करना।

(९) निर्जरा—कर्मों का आत्मप्रदेशों से दूर होना निर्जरा है। उसके कारणों और स्वरूप का विचार करना निर्जराभावना है।

(१०) लोकभावना—लोक के स्वरूप का चिन्तन करना।

(११) बोधिदुर्लभता—नाना योनियों और गतियों में भ्रमण करते हुए संसारी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है ! ऐसा चिन्तन करना ।

(१२) धर्मप्रभावना—धर्म के परम अमृतमय स्वरूप का विचार करना।

इन भावनाओं से यह ध्वनि निकलती है कि जीव आप ही कर्ता और भोक्ता है । हमें कोई दूसरा सुखी अथवा दुखी नहीं बना सकता ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो मानव देवी-देवताओं के पीछे क्यों पड़े रहते हैं ? सन्त जन भी ईश्वर का भजन क्यों करते हैं ?

उत्तर—जैनदर्शन मे दो प्रकार के कारण स्वीकार किये गए हैं—उपादान और निमित्त । प्रत्येक आत्मा अपने सुख-दुःख मे आप ही उपादान कारण है परन्तु बाह्य निमित्त कारण अनेक होते हैं। कार्य की उत्पत्ति के लिए दोनों कारण अपेक्षित हैं। घड़ा बनने में मिट्टी उपादान कारण है और चाक आदि निमित्त कारण । एक के अभाव में भी कार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार बाह्य निमित्त देवी-देवता आदि भी हो सकते हैं।

निश्चय दृष्टि से आत्मा अपना भविष्य बनाने में स्वतंत्र है। वह न उपास्य है, न उपासक है।

इस प्रकार इस आत्मा के नीचे धरती और ऊपर आकाश है। इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ आत्मा का अपना नहीं है। ऐसा विचार स्थिर करके प्रवृत्ति करने वाला साधक अवश्य ही लोकोत्तर शान्ति प्राप्त करता है।

दो भागों में विभक्त हो गया है। हिमवान पर्वत पर स्थित पद्मद्रह से प्रवाहित होने वाली गंगा और सिन्धु नामक महानदियों के कारण भी भरत क्षेत्र अलग अलग बंट गया है। अतः उसके छह खण्ड हो गए हैं। इसके तीन तरफ लवण समुद्र है और एक तरफ हिमवान पर्वत है।

मेरु से उत्तर में ठीक इसी प्रकार का ऐरवत क्षेत्र है। इन्हीं दो क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का प्रभाव होता है और विभिन्न आरों में विभिन्न प्रकार की स्थिति होती रहती है।

सुमेरु पर्वत के इर्दगिर्द ३३६३४ योजन विस्तार वाला महाविदेह क्षेत्र है। इसमें सदैव चौथे काल की सी स्थिति रहती है। इसी के मध्य भाग में सुमेरु के आ जाने से यह क्षेत्र दो हिस्सों में बट गया है—पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह। पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह मे सोलह-सोलह विजय हैं। इन बत्तीस विजयों में जघन्य बीस तीर्थंकर विहरमान होते हैं।

सुमेरु के उत्तर और दक्षिण में विदेह क्षेत्र में कुछ अकर्मभूमि का भाग है जो देवकुरु और उत्तरकुरु के नाम से प्रसिद्ध है।

सुमेरु के उत्तर और दक्षिण में भरत तथा ऐरवत क्षेत्रों को छोड कर शेष चार क्षेत्र भी अकर्मभूमि है। इस प्रकार अकर्मभूमि के कुल ६ क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। अकर्मभूमियों के मानव कृषि आदि व्यवसाय नहीं करते। वे कल्पवृक्षों से ही अपना निर्वाह करते हैं।

जम्बूद्वीप के बाहर, उसे चारों ओर से घेरे हुए, दो लाख योजन का विस्तार वाला लवणसमुद्र है। लवणसमुद्र मे हिमवान और शिखरी पर्वत से पूर्व और पश्चिम में दो-दो दाढाए निकली है जिसके ऊपर ५६ अन्तर्द्वीप हैं। इन अन्तर्द्वीपों में भी मनुष्य रहते है। वे अकर्मभूमिज मनुष्यों के समान जीवन यापन करते हैं।

लवणसमुद्र के आगे चार लाख योजन विस्तार वाला और लवण समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए धातकीखण्ड द्वीप है। इस द्वीप में दो भरत दो एरवत दो महाविदेह हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के समान ही दुगुनी-दुगुनी रचना है। जम्बूद्वीप में एक तो धातकीखण्ड में दो मेरु हैं। जम्बूद्वीप की तरह यहां भी तीर्थंकर होते हैं।

धातकीखण्ड द्वीप से बाहर, चारों ओर से उसे घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। इस समुद्र से आगे सोलह लाख योजन विस्तार वाला पुष्करद्वीप है। इस द्वीप को मानुषोत्तर नामक पर्वत से दो हिस्सों

में विभक्त कर दिया है। आधे भाग में अर्थात् पुष्करार्ध में मनुष्यों का वास है। इस पुष्करार्ध में भी भरत आदि सब क्षेत्र दो-दो हैं। मेरु पर्वत भी दो हैं।

इस प्रकार सब मिल कर पाँच भरत ५ महाविदेह और पाँच ऐरवत क्षेत्रों में पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्र हैं। ३० अकर्मभूमि क्षेत्र और ५६ अन्तर्द्वीप हैं। इन्हीं क्षेत्रों में मनुष्य का वास है।

जम्बूद्वीप धातकीखण्ड द्वीप और आधा पुष्कर द्वीप यह अढाई द्वीप ही मनुष्यलोक है।

मनुष्यलोक में मनुष्यों की संख्या २६ अंक प्रमाण है। किसी-किसी का खयाल है कि क्षेत्रफल को देखते इतनी जगह में इतने मनुष्यों का समावेश नहीं हो सकता अतएव ६००००० लाख सम्मूर्छिम मनुष्य भी इस संख्या में सम्मिलित है। कोई यह कहते हैं कि अजितनाथ भगवान् के समय में मनुष्य संख्या उत्कृष्ट हुई थी उस समय २६ अंकप्रमाण मनुष्य थे। जब मनुष्यसंख्या कम होती है तब भी वह २६ अंकप्रमाण ही रहती है ऐसे ही अंकों में परिवर्तन हो जाय मगर अंकों की संख्या उतनी ही रहती है।

हाँ तो पुष्करद्वीप के आगे फिर समुद्र है और उस समुद्र के आगे फिर द्वीप आ गया है। इस प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र के क्रम से असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। सभी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अन्त में स्वयंभूरमण नामक समुद्र है। यहीं द्वीप समुद्रों का सिलसिला समाप्त होता है। इस समुद्र से बारह योजन की दूरी से चारों ओर अलोकाकाश आरम्भ हो जाता है। अढाई द्वीप से बाहर मनुष्य नहीं रहते और लोक से बाहर प्राणी नहीं रहते।

इस विवरण से स्पष्ट है कि इस विराट् संसार में मानवों की संख्या अत्यल्प है और उनका निवासक्षेत्र भी अल्प है। इनमें भी ३० अकर्मभूमियों और ५६ अन्तर्द्वीपों के मनुष्यों में धर्माचरण नहीं हो सकता। न उन क्षेत्रों में धर्म की प्रवृत्ति है न समय है। केवल पन्द्रह कर्मभूमियों में ही धर्म का आचरण हो सकता है। वहीं तीर्थंकर साधु साध्वी श्रावक और श्राविका होते हैं। यह कितना सौभाग्य है आपका कि आप ऐसे क्षेत्र में जन्मे हैं जहाँ धर्म का आचरण किया जा सकता है। इस सुयोग का लाभ उठाइए और अपने दुर्लभ मानवभव को सफल कीजिए।

जैनधर्म में—

कालचक्र

मानवजगत् का ज्योतिष्क देव-समूह भ्रमणशील है। उसी का गमनागमन कालभेद का सूचक है। चन्द्र-सूर्य की गति से वर्ष युगयुगान्तर का समय नापा जाता है। सब ज्योतिष्क देव अर्थात् चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारागण इस समतल भूमि से ७९० योजन की ऊँचाई से ९०० योजन की ऊँचाई तक में समाविष्ट हैं और वहीं मध्यलोक की ऊपरी सीमा समाप्त हो जाती है।

जैनागमों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के नाम से काल के दो भेद हैं। यह दोनों मिल कर एक कालचक्र कहलाते हैं।

ह्रास और विकास जगत् में सदैव होता रहता है। पतन और उत्थान सृष्टि का अनादिकालीन प्राकृतिक विधान है। जिस काल में प्राणियों की शक्ति, अवगाहना आयु आदि का क्रमशः ह्रास होता रहता है वह जैन-परिभाषा में अवसर्पिणीकाल कहलाता है। इसके विपरीत जिस काल में पूर्वोक्त चीजों का क्रमशः विकास होता रहता है वह उत्सर्पिणीकाल है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का यह परिवर्तन सिर्फ भरत और ऐरवत क्षेत्र में ही होता है अन्य क्षेत्रों में नहीं। महाविदेह क्षेत्र में यहाँ के चौथे आरे सरीखी स्थिति सदैव रहती है इसी से वहाँ सदैव तीर्थंकर भगवन्तों का विचरण होता है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के छह-छह विभाग हैं जो आरे कहलाते हैं। अवसर्पिणी काल के छह आरे इस प्रकार हैं—(१) सुखमसुखम (२) सुखम (३) सुखमदुखम (४) दुखमसुखम (५) दुखम और (६) दुखमदुखम। यही छह आरे विपरीत क्रम से उत्सर्पिणीकाल के हैं अर्थात् उत्सर्पिणीकाल दुखमदुखम आरे से प्रारम्भ होकर सुखमसुखम पर समाप्त होता है।

एक कालचक्र बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का अवसर्पिणीकाल और इतना ही उत्सर्पिणीकाल।

भूमिसात् हो जाते हैं। धर्म और राजनीति का विच्छेद हो जाता है। गंगा-सिन्धु के किनारे पर कतिपय मनुष्य रह जाते हैं और बिलों में रह कर अपना जीवन पूरा करते हैं।

इक्कीस हजार वर्ष के छठे आरे में वे अभागे पुण्यहीन अधर्मी जन बिलों में रहते हैं। अत्यन्त कष्टमय जीवन यापन करते हैं। इस प्रकार छह आरों का काल पूर्ण होता है।

जैसे बारह बजे बाद घड़ी की घण्टे की सुई छह घंटों तक नीचे गिरती जाती है उसी प्रकार अवसर्पिणी काल के छह आरों में सब प्रकार से अवनति का ही चक्र चलता रहता है।

अवसर्पिणी काल के छहों आरे समाप्त होने के पश्चात् उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है। दुखमदुखमा आरे से उसकी शुरुआत होती है और सुखमसुखमा आरे से अन्त होता है।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों मिल कर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

काल के द्वारा ही देवों नारकों मनुष्यों और तिर्यचों की आयु का माप किया जाता है। यह स्मरणीय है कि केवल अढाई द्वीप (मानवक्षेत्र) के चन्द्र सूर्य आदि ही गतिशील हैं बाहर के नहीं। वे स्थिर ही रहते हैं।

जैनेतर साहित्य में भी कालविभाग की कल्पनाएं पाई जाती हैं। वैदिक साहित्य में सतयुग कलियुग द्वापरयुग और त्रेतायुग के नाम से चार युग प्रसिद्ध हैं। इस कल्पना के अनुसार इस समय कलियुग चल रहा है।

काल अनादि-अनन्त द्रव्य है। जब सागरोपम जैसे अत्यन्त लम्बे काल का समझना-समझाना होता है तब हमारे गणितशास्त्र में प्रचलित संख्याएं बेकार साबित होती हैं। उस समय उपमाओं द्वारा काल को समझना होता है।

चार कोस का लम्बा-चौड़ा और गहरा एक कूप हो। युगलियों के केशों के ऐसे बारीक टुकड़े जिनका फिर टुकड़ा न हो सके उस कूप में भरे जाएं। ऐसे ठाँस-ठाँस कर भरे जाएं कि चक्रवर्ती की सेना उस पर होकर निकल जाय या गंगा का प्रवाह आने पर भी उनमें से एक भी बाल न बहे। फिर सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक बालाग्र निकालने में जितना समय लगे वह पल्योपम कहलाता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है।

कालचक्र अनादि से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। पुण्यात्मा जीव अनेक सागरोपमों तक स्वर्गलोक में रह कर सुखोपभोग करते हैं और अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तैरने की कला

जीवन में पथ का निर्माण करने के लिए कला की आवश्यकता है। कलाविहीन जीवन भाररूप होता है। प्रकृति में सर्वत्र कला के उत्कृष्ट नमूने दृष्टिगोचर होते हैं। दूर क्यों जाते हैं अपने ही शरीर को देखिए। उसमें कला का अमूल्य भण्डार भरा है। मगर जीवन की राह बनाने की कला का निर्माण स्वयं मनुष्य को ही करना पड़ता है।

भगवान् महावीर ने संसार को सागर कहा है—

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो॥

हमारा यह शरीर नाव है और जीव नाविक है। संसार समुद्र है। जो आत्मा से महात्मा बन गए वे संसार-सागर को तैर कर पार हो जाते हैं अर्थात् मुक्ति-तीर पर पहुँच जाते हैं। ऐसे महर्षिजन ही संसार में माने हुए तैराक हैं। महर्षियों की जो आचारविधि है वही तैरने की कला होनी चाहिए।

महर्षि बनने के लिए सर्वप्रथम योग्यता चाहिए अनासक्ति। आसक्ति समस्त पापों का मूल है और उसे प्रमाद में परिगणित किया गया है—

माया मे पिया मे भगिणी मे पुत्ता मे धूया मे——इच्चत्थं लविए मोह बसे पमत्त।

जहाँ आसक्ति है वहाँ प्रमाद है। प्रमाद जन्म-मरण का कारण है। यह संसार-सागर में डुबाता है। इसमें स्त्रीविकथा प्रमाद प्रधान है—

पासि भाए इत्थीहिए।

यह पतित संसार स्त्रियों से [illegible] व्याप्त है। उनमें हार जुआ है और दौलत है। कोई जन स्त्रियों को सुखालय (सुख का घर) मानते हैं मगर वह उन्हें डुबाने वाली सिद्ध होती है।

[illegible]।

विषयों में गृद्ध मानव संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानी पुरुष वासना वाले हृदय को संसार कहते हैं—

कामानां हृदये वास इति संसार

और कहा है—

अप्पेइ लोयसंजोग एस नाए पवुच्चइ।

धन-धान्य ग्राम धाम आदि बाह्य पदार्थों तथा राग-द्वेष आदि आन्तरिक भावों के प्रति जो ममता है, वह लोकसंयोग कहा गया है। इस लोकसंयोग का अतिक्रमण करना ही न्यायमार्ग है। यही मोक्षार्थियों का आधार है। उस आधार का प्राण समभाव है। मोक्षार्थी को अपने सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार में समभाव को ही सामने रख कर प्रवृत्ति करना उचित है। कहा है—

लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा
लाभु त्ति न मज्जिज्जा
अलाभु त्ति न सोइज्जा।

मुनि को आहार आदि का लाभ हो तो उसकी मर्यादा का जानकार होना चाहिए और मर्यादा का उल्लंघन करके कोई ग्राह्य वस्तु भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। साथ ही लाभ होने का गर्व नहीं करना चाहिए और लाभ न हो तो पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए, शोक नहीं करना चाहिए। उस दोनों अवस्थाओं में समभाव ही अपनाना चाहिए।

संसार-सागर से पार होने का सन्तोष भी एक प्रधान साधन माना गया है। सन्तोष-को धारण किये बिना जगत् की कोई भी वस्तु सुखप्रद नहीं हो सकती। लाखों करोड़ों और अरबों-खरबों की सम्पत्ति में भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि सन्तोष है तो बिना धन एवं अन्य साधन के भी मनुष्य सुखी हो सकता है। अतएव सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन सतोष है। जगत् के सभी सन्तों ने इस सब से बड़ा धन कहा है—

सर्पा पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैः मुनिवरा क्षपयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्॥

सर्प वायु भक्षण करते हैं पर क्या वे दुर्बल हैं? सूखा घास-पात खाने वाले वन्य गजराज क्या निर्बल होते हैं? कन्द मूलों पर निर्वाह करने वाले तापस जीवित नहीं रहते? तथ्य तो यह है कि सन्तोष ही मानव का सर्वोत्तम निधान है।

सन्तोष है तो सभी सुख है। सन्तोष नहीं तो सुख भी नहीं। असन्तोषी धनकुबेर दरिद्र से भी गया-बीता है और सन्तोषी फकीर सम्राट् से भी अधिक सुखी होता है।

लोग गुलाबी रंग के मक्खन जैसे शरीर का लाड़-प्यार करने के हेतु नानाविध साधनों का संग्रह करते हैं फिर भी यह पानी में पतासे की तरह गल जाता है।

जहा अंतो तहा बाहिं
जहा बाहिं तहा अंतो।
अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति
पुढो वि सवंति पंडिए पडिलेहाए।

यह औदारिक शरीर जैसा भीतर से असार है, वैसा ही बाहर से भी असार है और जैसा बाहर से असार है वैसा ही भीतर से असार है। विवेकी जनों के लिए यही उचित है कि वे शरीर के भीतर की अशुद्धि का दर्शन और यह भी देखें कि नौ द्वार अशुचि पदार्थों को बाहर निकालते रहते हैं। इस शरीर से ममत्व त्याग कर आत्महित साधन कर लेना ही योग्य है। मगर इस प्रकार की बुद्धि कब उत्पन्न हो सकती है? सत्संगति से ही ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं।

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका।

संसार-सागर से पार उतरने के लिए जप-तप किया जाता है। दान दिया जाता है, ध्यान किया जाता है। फिर भी चित्त में शान्ति का उद्भव नहीं होता। ऐसा क्यों हो रहा है? इसका उत्तर यह है कि विवेक और समभाव की कमी है। इसी कारण उनकी सफलता नहीं होती।

फिर भी हम हतोत्साह नहीं होना है। जो कुछ भी साधन किया जाय वह श्रद्धा और विवेकपूर्वक होना चाहिए। किन्तु आत्मज्ञानी की छाया में रह कर आत्मध्यान प्राप्त करो। मन को वृत्ति विषयों की ओर मत जाने दो। मन के उन्माद को दूर करना हो और उसे स्वस्थ रखना हो तो इस विश्व की विचित्रता पर पुनः-पुनः विचार करो। वासनाएँ क्षणिक हैं, आत्मा बलवान् है, आत्मा अमर है। ऐसा सोच कर विकारी भावों को त्यागो।

परोपकारी जीवन बनाना भी पार उतरने का उपाय है। निःस्वार्थ सेवा ही परोपकार है। अपने परिवार का पालन तो पशु-पक्षी भी करते हैं। इतना मात्र करने से मनुष्य की क्या बड़ाई है? [illegible] जनता की सेवा करके मनुष्यता का नाम लो। इसी में सेवा पुण्य है।

जो समदर्शी वीर, भन्त-प्रान्तभोजी होते हैं वही मुनि संसार-सागर से पार उतरते हैं, ऐसा प्रभु महावीर का विधान है।

नाणस्स फलं विरई ।

ज्ञानप्राप्ति का फल पापकर्म से विरत होना है। इस विशाल संसार-सागर से पार होने की सर्वश्रेष्ठ कला आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना है। सच्चा ज्ञान उत्पन्न होने पर ही समभाव की प्राप्ति होती है और वस्तुस्वरूप का सही बोध प्राप्त किया जा सकता है।

अनुकूल पदार्थों पर राग नहीं और प्रतिकूल पदार्थों का योग मिलने पर द्वेष नहीं करना ही समभाव है। समभाव से शुभाशुभ कर्मबन्धन नहीं होता और बन्धन न होना ही मोक्षमार्ग है। यही साधना का मूल मन्त्र है। समभाव की प्राप्ति के लिए ही मुनिजन गृह एवं परिवार का परित्याग करके एकान्तमय जीवन अंगीकार करते हैं।

यह सत्य है कि कर्ममात्र बन्धन है चाहे वह पुण्यकर्म हो या पापकर्म। मगर पुण्य में यह विशेषता है कि वह मनुष्य को ऐसी सामग्री प्रदान करता है जिसके बल से वह मोक्षमार्ग की साधना में समर्थ होता है। वह पुण्य माता-पिता की सेवा अनाथों की सेवा आदि शुभ कृत्यों द्वारा उपार्जित किया जाता है। पुण्य के प्रभाव से सन्तसमागम जप तप दान आदि धर्मक्रियाएं करने का अवसर मिलता है। अतएव प्रारंभिक स्थिति में पुण्य उपादेय है। यही आप्त पुरुषों का आदेश है।

हमारी बुद्धि इतनी बलवती नहीं जो स्वयं तिरने का स्वतंत्र मार्ग बना सके। ऐसा दूसरा कोई मार्ग हो भी नहीं सकता। अतएव हमें आप्त पुरुषों की आज्ञा के अनुसार ही चलना होगा। पूर्वकालीन ऋषि-महर्षि जो करते आए हैं, वही हमें करना है और जो नहीं करते आए हैं वह नहीं करना है। यही आत्म हित का एक मात्र उपाय है मार्ग है कहा है—

से जं च आरभे जं च नारभे ।

कर्मवाद

क्रियते इति कर्म — अर्थात् मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि भावों के द्वारा संसारी जीव जिसे उपार्जित करते हैं वह कर्म कहलाता है।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म।

द्रव्यकर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। वे पुद्गल कार्मण जाति के कहलाते हैं और समस्त लोक में व्याप्त हैं। अत्यन्त सूक्ष्म हैं।

जैसे आग में तपा लोहे का गोला सभी ओर से पानी को ग्रहण करता है उसी प्रकार संसारी जीव कषायों से संतप्त होने के कारण प्रतिसमय कर्मों को ग्रहण करता रहता है।

जीव का शुभ या अशुभ भाव भावकर्म है। इन विविध प्रकार के भावों से ही द्रव्यकर्मों का ग्रहण होता है। ग्रहण होने से पहले कार्मण जाति के पुद्गल एक रूप होते हैं—न शुभ और न अशुभ। मगर ग्रहण होने के पश्चात् वे शुभाशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं। शुभ भाव से गृहीत कर्म शुभ और अशुभ भाव से गृहीत कर्म अशुभ होते हैं।

द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म, इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव प्रत्येक कर्म सादि सान्त होने पर भी उनका प्रवाह बीज और वृक्ष के प्रवाह के समान अनादि है।

यदि बीज को जला दिया जाय तो उससे अंकुर नहीं उत्पन्न होता और अनादिकाल से चली आ रही उसकी कार्यकारणभाव की परम्परा समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा भी नष्ट हो सकती है।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

भावकर्म संक्षेप में दो प्रकार के हैं—राग और द्वेष। क्रोध, मान, माया और लोभ इन्हीं का विस्तार है।

ससार को वृक्ष का रूपक दिया गया है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है इसी प्रकार ससार अर्थात् जन्म मरण का चक्र राग-द्वेष रूप कषायों से उत्पन्न होता है। कषाय का अन्त होने पर भवभ्रमण का अन्त हो जाता है। यही मुक्ति है।

मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग कर्मबंध के कारण हैं। इन्हीं से यह जीव अनादि काल से कर्मबंध कर रहा है।

जैनदर्शन की तरह जैनेतर दर्शनों में भी कर्म को स्वीकार किया गया है। वेदान्त में उसे माया कहते हैं सांख्यदर्शन उसे प्रकृति कहता है वैशेषिक-नैयायिक उसे अदृष्ट शब्द से अभिहित करते हैं। तथापि जैनदर्शन मे कर्मसिद्धान्त का जैसा सांगोपांग विशद और सुसंगत निरूपण किया गया है वैसा किसी अन्य दर्शन मे नही। जैनपरम्परा में कर्मसिद्धान्त का परिचय देने के लिए अनेकानेक स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना की गई है। जीव और कर्म का संबंध किस प्रकार का है इसका विस्तृत वर्णन इन ग्रंथों मे मौजूद है। सच तो यह है कि कर्मवाद को समझ लेने पर ही जैनधर्म के अध्यात्मवाद को भलीभाँति समझा जा सकता है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि आत्मा अरूपी है और कर्म पौद्गलिक होने से रूपी हैं। तब अरूपी और रूपी का पारस्परिक श्लेष किस प्रकार हो सकता है? जड़ पदार्थ अरूपी आत्मा पर अपना प्रभाव किस प्रकार डाल सकता है?

मगर उत्तर सरल है। जीव और कर्म का सम्बन्ध रूपी-अरूपी का संबंध नहीं है। संसारी जीव के साथ ही कर्म का संबंध होता है और संसारी जीव सदा से कर्मबद्ध होने के कारण रूपी हो रहा है।

इसके अतिरिक्त रूपी वस्तु का अरूपी पर असर न पड़ता हो सो बात नही है। मदिरा जड़-रूपी होने पर भी पीने वाले की चेतना शक्ति को प्रभावित करती है। औषध और अफीम जड़ होने पर भी चेतन के परिणमन मे निमित्त बनती है।

जैसा कि पहले बतलाया गया है बद्ध होने से पहले कर्मवर्गणा के पुद्गल एक प्रकार के होते हैं मगर बद्ध होते समय योग के निमित्त से उनमें विभिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। वह स्वभाव प्रकृति कहलाते हैं। कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ तो बहुत हैं पर मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण—जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करता है वह ज्ञानावरण कहलाता है। यह कर्म ज्ञानशक्ति को सुप्त कर देता है। जैसे सूर्य

(७) गोत्रकर्म—लोक में प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेने का कारण गोत्र कर्म है। नीच गोत्र के उदय से अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और उच्च गोत्र से प्रतिष्ठित कुल में।

(८) अन्तरायकर्म—दान देने में धन-धान्य आदि सम्पत्ति के लाभ में, भोग-उपभोग में तथा शक्ति की प्राप्ति में यह कर्म बाधक है।

दानान्तराय के उदय से मनुष्य चाहता हुआ भी दान देने में समर्थ नहीं हो पाता। इसी प्रकार लाभ आदि नहीं प्राप्त कर सकता। इसके पाँच भेद हैं—(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बद्ध होना बन्ध है फल देना उदय है विद्यमान रहना सत्ता है और बन्ध होने के बाद भी अमुक समय तक फल न देना अबाधाकाल है। अबाधाकाल समाप्त होने पर ही प्रत्येक कर्म अपना फल देता है।

कर्म का फलभोग दो प्रकार से होता है—उदय से और उदीरणा से। स्थिति पूर्ण होने पर स्वतः फल देना उदय है और स्थिति पूर्ण होने से पहले उसे उदय में ले आना उदीरणा है। उदय या उदीरणा के पश्चात् यह कर्म जीवप्रदेशों से अलग हो जाता है। इसे निर्जरा कहते हैं।

आत्मा कर्मप्रकृतियों में संक्रमण अर्थात् उलटफेर भी कर सकता है। जैसे साता को परिणामों की विशिष्टता के द्वारा असाता के रूप में और असाता को साता वेदनीय के रूप में पलट सकता है। मगर यह कर्मसंक्रमण उत्तर प्रकृतियों का ही होता है मूलप्रकृतियों का नहीं। उत्तरप्रकृतियों में भी आयु का नहीं होता। दर्शनमोह और चारित्रमोह का भी नहीं होता।

जैसे कर्म की प्रकृति में उलटफेर हो सकता है उसी प्रकार स्थिति तथा अनुभाग (रस-विपाक) में भी न्यूनाधिकता हो सकती है। किन्तु जो कर्म अत्यन्त तीव्र परिणाम से बाँधे गए हैं वे निकाचित अर्थात् बहुत चिकने होते हैं। उनको प्रायः भोगना ही पड़ता है। वे बिना भुगते पिण्ड नहीं छोड़ते।

कल्पना कीजिए किसी अनाज के दुकानदार की दुकान पर आकर उसके दुश्मन की गाय ने कुछ दाने खा लिये। दुकानदार ने गाय को इतना मारा कि

वह मर गई। फिर उसने अपने यश का अभिमान किया। दुःसम की गाय का मार कर खुश हुआ ऐसी स्थिति में वह निकाचित कर्म बंधता है।

ऊपर आठ कर्मों का उल्लेख किया गया है, उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय घाति कर्म हैं और वेदनीय आयु, नाम तथा गोत्र यह चार अघाति कहलाते हैं। घातिकर्म आत्मस्वरूप के बाधक हैं। अघाति कर्म सिद्धावस्था नहीं उत्पन्न होने देते।

तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागे वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव खवणे य जए बुहा॥

इस प्रकार कर्मों के विपाक को जान कर बुद्धिमान पुरुष इनके निरोध और क्षय के लिए प्रयत्न करे।

मानवजीवन पाने का सब से बड़ा लाभ यही है क्योंकि मनुष्यजीवन में ही समस्त कर्मों का क्षय किया जा सकता है।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।

आगम

जनजीवन में मस्तिष्क की खुराक साहित्य है। मानवजाति के हित की दृष्टि से जो लिखा जाता है वह साहित्य कहलाता है।

आगम साहित्य का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका निर्माण आप्त पुरुषों द्वारा होता है। सर्वोत्तम आप्त तीर्थंकर भगवान् हैं जो राग-द्वेष आदि समस्त विकारों से रहित और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। वे जगत् के हित के लिए तत्त्व का प्रकाश करते हैं। उनके प्रधान शिष्य महामति गणधर उसे शाब्दिक रूप दे कर व्यवस्थित करते हैं। वही आगम हमारे लिए दर्पण का काम करता है। कर्त्तव्य क्या है? अकर्त्तव्य क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? इत्यादि गूढ़ प्रश्नों का समाधान पाने का अन्तिम साधन आगम ही है। जहाँ साधक की बुद्धि लड़खड़ाने लगती है, तर्कशक्ति शिथिल पड़ जाती है और विचार थक जाता है वहाँ आगम ही सहारा देकर उसे आगे की राह बतलाता है।

आगम तीन प्रकार का है—सूत्रागम, अर्थागम, उभयागम। कहा है—आगमे तिविहे पण्णत्ते तंजहा—सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे।

भगवान् महावीर ने महइमहालियाए परिसाए जाव धम्मा कहा' अर्थात् विराट् सभा में धर्मकथा की और बतलाया—लोक है, अलोक है, जीव, अजीव, पुण्य, पाप एवं निर्जरा है। महारंभ आदि से नरकगति, माया मृषावाद आदि से तिर्यञ्चगति, भद्रभाव, सरलता, विनीतता, अनुकम्पा, गुणग्राहिता आदि से मनुष्य गति, सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा एवं बालतप आदि से देवगति की प्राप्ति होती है आदि।

भगवान् की इस वाणी को गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित किया। वही वाणी मुनियों के लिए एक अनुपम निधि बन गई।

यह आगमनिधि गणिपिटक कहलाती है। द्वादशांगी भी उसे कहते हैं। वे द्वादश अंग यह हैं—

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) (६) ज्ञाता (७) उपासक (८) अन्तकृत् (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद।

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद इन सब में विशाल अंग था जो आज विच्छिन्न हो चुका है। उसके पाँच बड़े-बड़े भाग थे जिनमें पूर्वगत भी एक था। उस पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश था यथा—

१ उत्पादपूर्व—द्रव्य-पर्यायों की उत्पत्ति।
२ अग्रायणीय—द्रव्यों पदार्थों एवं जीवों आदि का परिमाण।
३ वीर्यप्रवाद—सकर्मक-अकर्मक जीवों का वर्णन।
४ अस्तिनास्तिप्रवाद—पदार्थों की सत्ता-असत्ता का निरूपण।
५ ज्ञानप्रवाद—ज्ञान का स्वरूप और भेद।
६ सत्यप्रवाद—सत्यनिरूपण।
७ आत्मप्रवाद—आत्मा का निरूपण।
८ कर्मप्रवाद—कर्मस्वरूप एवं प्रकार।
९ प्रत्याख्यानप्रवाद—व्रत आचार विधि निषेध।
१० विद्याप्रवाद—सिद्धियों साधना आदि का निरूपण।
११ अवन्ध्य—शुभाशुभ फल।
१२ प्राणायुप्रवाद—इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास आयु आदि का निरूपण।
१३ क्रियाविशाल—शुभाशुभ क्रियाक्रम।
१४ लोकबिन्दुसार—लोकस्वरूप।

इन पूर्वों में करोड़ों पद थे। काल के कुटिल प्रभाव से आज कोई भी पूर्व उपलब्ध नहीं है मगर उनका सार उपलब्ध आगमों में सुरक्षित है।

मूल आगमों की भाषा अर्द्धमागधी है। तीर्थंकर भगवान् इसी भाषा में उपदेश देते थे। कहा है—

'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवा० पृ० ६०

द्वादशांगी अथवा गणिपिटक आगम का पर्यायवाची शब्द है। आगम आप्त का वचन होने से स्वतः प्रमाण है।

आगम के दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। भगवान् महावीर ने अर्थ रूप इन्द्रभूति आदि गणधरों ने सूत्र रूप में निबद्ध कर लिया। वह अंगप्रविष्ट कहलाता है। इनके बाद के [illegible] स्थविर आचार्यों की रचनाएं

अंगबाह्य या अनंगप्रविष्ट कहलाती है। जैसे स्थविर श्रीशय्यंभव ने अपने शिष्य मनक को अल्पायु जान कर उसके बोधप्रबोध के लिए दशवैकालिक सूत्र की रचना की। श्यामाचार्य ने प्रज्ञापनासूत्र का निर्माण किया। भद्रबाहु स्वामी ने अनेक आगमों की संकलना की।

अंगसूत्रों का जो परिमाण शास्त्रों में मिलता है, उसे देखते हुए निस्संदेह कहा जा सकता है कि अधिकांश श्रुत आज विच्छिन्न हो गया है। वीरनिर्वाण के पश्चात् सं ९८० में क्या परिस्थिति हुई, यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है। तत्पश्चात् वल्लभीपुर में आचार्यवर्य श्रीदेवर्धिगणि ने आगमों के अवशिष्ट भाग को व्यवस्थित किया और आगम लिपिबद्ध भी किये। उससे पहले मौखिक रूप में ही चले आ रहे थे।

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन संघ ने बत्तीस आगमों को ही मान्य किया है। उनमें दृष्टिवाद लुप्त हो जाने से ११ अंग १२ उपांग ४ मूल ४ छेद और एक आवश्यक सूत्र है।

यह सूत्र मूलतः केवलिभाषित होने से सर्वोत्तम साहित्य है। इससे अधिक उपयोगी और रुचिकर साहित्य युग युगान्तर में भी अन्यत्र कहाँ मिल सकता है!

काका कालेलकर कहते है—'बढ़िया छलनी से छनी कृतियाँ साहित्य हैं। भाषण और मनन उत्कृष्ट व्यापार है। नरपशु को जो पुरुषोत्तम बना सके वह साहित्य है।

जनजीवन को कल्याणमय बनाने में जिनवाणी सर्वथा समर्थ है।

प्रार्थना

शिवसुख प्रार्थना करसूं   उज्ज्वल ध्यान हिये धरसूं ।
रसना तुम महिमा करसूं   इमविध भवसागर तिरसूं ॥

'अरिहंते कित्तइस्सं' में अरिहन्त भगवन्तों की स्तुति करूँगा। वे संसार में सब से बड़े ज्ञानज्योति के प्रखर पुंज हैं। साधु साध्वी श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के संस्थापक हैं और जगत् को लोकोत्तर धर्म-मोक्षमार्ग का मार्गदर्शन करते हैं।

अरिहन्त-तीर्थंकर प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल में चौबीस होते हैं। अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ व्यतीत हो चुकी हैं और भविष्य में होंगी। अतएव अरिहन्त भी अनन्त हो चुके हैं और होंगे। यह तीर्थंकर देव तीसरे-चौथे आरे में ही होते हैं।

प्रत्येक काल में होने वाले चौबीस तीर्थंकरों को मैं वन्दना करता हूँ। 'उसभाइ-महावीर' इस अवसर्पिणी काल में हुई चौबीसी में यह आदि-अन्त के अरिहन्त हैं। चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लेने वाले देहधारी सर्वज्ञ भगवान् अरिहन्त कहलाते हैं और जब वे देह से मुक्त हो जाते हैं तब सिद्ध कहलाते हैं।

जैनधर्मविधान के अनुसार प्रत्येक आत्मा में समान शक्तियाँ विद्यमान हैं और प्रत्येक को मुक्ति प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। किसी को किसी के समक्ष हाथ पसारने की आवश्यकता नहीं है। कोई किसी को मुक्ति दे नहीं सकता। फिर भी व्यवहार नय की अपेक्षा से भगवान् से प्रार्थना की जाती है—

तित्थयरा मे पसीयंतु ।
तीर्थंकर देव मुझ पर प्रसन्न हों ।
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।
सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें ।

ध्यान देने योग्य बात है कि प्रार्थना तो निर्बल के लिए है। सबल को किसी के सामने प्रार्थी बनने की आवश्यकता ही क्या है! जो निज भुजबल से सरिता को नहीं तिर सकता उसी को नौका चाहिए। जिसकी दृष्टिशक्ति कमजोर है, उसी को चश्मा चाहिए। संसारी जीव भी यद्यपि अनन्त आत्मिक शक्तियों का भण्डार है किन्तु उसकी शक्तियों को कर्म का जंग लग रहा है। आवरणों ने उन शक्तियों को कमजोर कर दिया है। इसी कारण यह जीव अनन्तबली होने पर भी निर्बल हो रहा है और इसे प्रार्थना की आवश्यकता है।

तो क्या प्रार्थना करने से भगवान् सिद्धि प्रदान कर देते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रार्थना हमारे अन्तःकरण को विशुद्धि प्रदान करती है और सिद्धि प्राप्त करने की प्रबल प्रेरणा का स्रोत बनती है। प्रार्थना से हृदय को अपूर्व संकल्पबल की प्राप्ति होती है और उससे प्रार्थी अपनी साधना के पथ पर अग्रसर होता है। इस प्रकार भगवान् भले ही फल न दें तथापि प्रार्थी की प्रार्थना निष्फल नहीं जाती। उसे फल अवश्य प्राप्त होता है।

उपाध्याय कवि श्री अमरचन्दजी म० के शब्दों में प्रार्थना का स्वरूप और महत्त्व यह है—

"जो प्रार्थना केवल वाणी पर चढ़ कर बोलती है, संसार के स्थूल पदार्थों में भटकी रहती है जिसमें से वासना की दुर्गन्ध आती है, वह प्रार्थना जैनधर्म को मान्य नहीं है। वह प्रार्थना क्या सौदाबाजी है। साधकजीवन की मधुर सुगंध निष्कामभाव से अपने प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करने में है। प्रभु को अर्पण करने का अर्थ है—प्रभुमय जीवन बनाना। प्रभुमय जीवन का अर्थ—पवित्र एवं निर्मल जीवन। ——— जिसका अन्तश्चैतन्य अपने प्रभु में एकाकार हो गया है, वह है प्रभुमय जीवन।

आगे चल कर वह लिखते हैं—'जैनसंस्कृति प्रार्थना को महत्त्व देती है। अपने आराध्य को प्रतिपल स्मृतिपथ में रखने को कहती है, परन्तु इस सब से भी आगे बढ़ कर कहती है कि—अपने पुनीत पुरुषार्थ को न भूलो। जीवन के कर्त्तव्य के प्रति बेभान न बनो। शक्ति का अनन्त स्रोत तुम्हारे अन्दर ही बह रहा है। वह कहीं बाहर से आने वाला नहीं है। प्रभु का स्मरण तो ठीक समय पर उठ खड़ा होने के लिए चोरमकी है अलार्म है। उठना तो साधक! तुझे ही पड़ेगा। यदि तेरी चेतना मन्द है तो वह प्रार्थना क्या करेगी? प्रार्थना आदर्श ग्रहण करने के लिए है, उस आदर्श को यथार्थ का रूप देने के लिए है। इसके आगे तू है और तेरा पुरुषार्थ है।

प्रार्थना जीवन का स्वासोच्छ्वास है जो जीवनपर्यन्त चलता है। जन्म लेते ही बालक दूध के लिए माँ से प्रार्थना करता है। शाला में पहुँचते ही विद्या के हेतु सरस्वती से प्रार्थना करता है। पढ़ने पर प्रमाणपत्र की याचना करता है। फिर नौकरी या अन्य कोई काम करके धन चाहता है। कन्या सुन्दर पति के लिए प्रार्थना करती है। विवाहित होने पर पुत्रवती होना चाहती है। इस प्रकार सारा जीवन प्रार्थनामय है। परन्तु ऐसी प्रार्थनाएँ अनन्त बार की हैं। उनसे इस आत्मा का कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

शास्त्रकारों ने प्रार्थियों के चार विभाग किये हैं—आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी। सिर में दर्द होता है या पेट में पीड़ा होती है तब डाक्टर वैद्य या देवीदेवता से प्रार्थना की जाती है—

तू ही तू याद आवे रे दरद में

यह आर्त की प्रार्थना है।

कुछ नवीन जानकारी हासिल करने का अभिलाषी विज्ञ से जो प्रार्थना करता है, वह जिज्ञासु की प्रार्थना है। धन की इच्छा करने वाले की प्रार्थना अर्थार्थी की प्रार्थना है। यह सब संसार बढ़ाने की प्रार्थनाएं हैं। हमें ऐसी प्रार्थना करनी है जिसमें जन्म-मरण का चक्र छूट जाय आत्मा को अपनी असली विभूति प्राप्त हो जाय। यही ज्ञानी की प्रार्थना है।

क्षणिक सुखों की प्रार्थना करने वाला साधारण आत्मा है। अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख की गवेषणा में निरत महात्मा है। आत्मा जब महात्मा बन जाती है तो उसे परमात्मा बनने की लगन लग जाती है। महात्मा की प्रार्थना केवल परमात्मा का पद प्राप्त करने के लिए ही होती है। विनयचंदजी कहते हैं—

तू मो प्रभु, प्रभु मो तू है द्वैतकल्पना मेटो।
शुध चेतन आनन्द विनयचंद परमातम पद भेटो।
रे सुज्ञानी जीवा! भज ले रे जिन इकवीसमा।

इस प्रकार की प्रार्थना ही पारमार्थिक प्रार्थना है। इससे आत्मा में अपूर्व और अदम्य ज्योति प्रकट होती है। आत्मा का बल प्राप्त होता है। इस तरह प्रार्थना करने वाला प्रार्थी स्वयं ही एक दिन प्राप्य बन जाता है। अतएव शुद्ध और निष्कामभाव से प्रार्थना करना प्रत्येक जीवन के लिए उपयोगी है।

धर्मध्यान

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥

धर्म को जानता हूँ पर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती । अधर्म को जानता हूँ पर उससे निवृत्ति नहीं होती ।

दिन के उजेले के समान यह स्पष्ट सत्य है । क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य इस बात की साक्षी प्रत्येक मनुष्य का हृदय स्वयं ही है । मगर अकर्त्तव्य कर्म से विरत और कर्त्तव्यकर्म में निरत होने वाले महानुभाव कितने हैं ? ऐसी स्थिति में मनुष्य किसी भी वेष भूषा में या स्थिति में क्यों न हो अपना कल्याण नहीं कर सकता ।

आत्मकल्याण के लिए धर्मध्यान करना उतना ही आवश्यक है जितना प्राणी को पानी बल्कि इससे भी अधिक ।

जैनदर्शन मे ध्यान चार विभागों में विभक्त किया गया है—(१) आर्त्त ध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान । इनमें प्रारंभ के दो अप्रशस्त हैं और अन्तिम दोनों प्रशस्त हैं ।

इष्टसयोग के लिए, अनिष्टवियोग के लिए, रोगादि के लिए एवं आगामी काल मे वैषयिक सुख की प्राप्ति के लिए चिन्तन करना आर्त्तध्यान है । हिंसा असत्य आदि पापो का लगातार चिन्तन करना रौद्रध्यान है ।

अधम विचार आत्मा को कलुषित करते है । कलुषित आत्मा नरक आदि दुर्गतियों में जा नाना प्रकार के दुःखों एव संकटों का शिकार होती है ।

धर्मध्यान के अनेक रूप है । जिनवाणी का स्वाध्याय करना शुभ चिन्तन करना शुभाशुभ कर्मों के फल का विचार करना राग-द्वेष आदि दुर्भावों से होने वाले अपाय का विचार करना । लोक के स्वरूप का चिन्तन करना जगत की अनित्यता अशरणता आदि के विषय में चित्त को एकाग्र करके विचार करना

यह सब धर्मध्यान के अन्तर्गत है। शास्त्र का वाचन करना, शंका-समाधान करना, बार-बार पढ़ना, मनन करना, तत्त्व की गहराई में गोते लगाना भी धर्मध्यान में ही सम्मिलित है। मानवजीवन की सफलता के लिए धर्मचिन्तन अनिवार्य है।

ओयं चित्तं समादाय झाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो निव्वाणमभिगच्छइ॥

जो साधक धर्मचिन्ता से चित्त को राग-द्वेषरहित करके तथा आत्मवश करके एकाग्र होता है, वही धर्मध्यान प्राप्त करता है। श्रुत-चारित्र रूप धर्म में अथवा सम्यग्ज्ञान-क्रिया रूप धर्म में स्थिरचित्त, जिनवचनों में शंकादि दोषों से रहित मुनि मोक्ष प्राप्त करता है।

धर्मध्यान का मूल आधार समभाव है। समभाव का अर्थ है—चित्त में राग और द्वेष की भावना न उत्पन्न होना। यही सुख और शान्ति का प्रधान कारण है।

आज हमें विशेष रूप से सजग होने की आवश्यकता है। हम संयमी अथवा संयमासंयमी के पद पर आरूढ़ हैं। भगवान् महावीर के संघ की व्यवस्था और अभ्युदय का उत्तरदायित्व हमारे मस्तक पर है। परन्तु हम सोये पड़े हैं।

संघ की व्यवस्था आज संतोषजनक नहीं है। कुछ उत्साही लोग काम करना चाहते हैं तो वे साधनसम्पन्न नहीं हैं। जो साधनसम्पन्न हैं, उनमें से किसी किसी का ही इस ओर ध्यान जाता होगा। मगर भगवान् का यह गंभीर घोष है कि प्रयत्न करो, कुछ करो—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो।
समयं गोयम! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन

भगवान् महावीर की यह अन्तिम समय की देशना है। नाना कठिनाइयों का पार करने के पश्चात् हमें मनुष्यभव की प्राप्ति हुई है। यह सुअवसर बार-बार नहीं मिल सकता। कर्मों का फल बड़ा ही गाढ़ा होता है। वे बिना भोगे छूट नहीं सकते। जब संयोगवश प्रबल पुण्य का उदय होता है तब मानवभव मिलता है। इसलिए जो अवसर आज हमें मिला है, उसका सर्वतोभावेन सदुपयोग करो और एक क्षण भी वृथा मत खोने दो।

पर इस भौतिक युग का मनुष्य ऐहिक विचारों में मस्त होकर ही जीवन यापन करता है। वह परलोक के विषय में सोचना नहीं चाहता मगर आँखें बन्द कर लेने से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। परलोक है और उसका मुका बिला करना ही पड़ेगा। उससे बचना असमभव है। इस तथ्य को समझ कर पहले ही सावधान हो जाओ जिससे समय पर पछताना न पड़े।

भयभीत होना कायरता है। यह कापुरुषों का लक्षण है मगर सम्मुख उपस्थित संकट को न समझना भी मूर्खता है। उसके प्रतीकार का प्रयत्न न करना भीरुता का एक प्रकार है। बाहर के शत्रुओं पर विजय पाना वीरता है तो भीतर के शत्रुओं को जीतना सब से बड़ी वीरता है। प्रमाद ऐसा ही शत्रु है। उस पर विजय पाये बिना धर्मक्रिया नहीं होगी। इसीलिए प्रभु महावीर बोले—गौतम जीवन के क्षण-क्षण का सदुपयोग करो। धर्मध्यान करके इसे सफल बनाओ। अखिल विश्व मे यही जीवन मौलिक है।

धर्मध्यान का अर्थ है—मन को शुभ विचारों में पिरोये रखना परोपकार परायण होना प्राणी मात्र पर करुणा का अमृत बरसाना समदृष्टि रखना शत्रु मित्र दोनों के हित का चिन्तन करना माता-पिता आदि गुरुजनों का समुचित विनय करना, अपने प्रशस्त विचार-आचार द्वारा स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करना जगत् का देश का समाज का एवं परिवार का सदा भला चाहना। दयाधर्म को समझना उसे अपने जीवन का पुरा बनाना तथा शरीर एवं आत्मा का पृथक् समझना और भेदविज्ञान को दृढ से दृढतर बनाना। जो इस प्रकार धर्मध्यान में निमग्न रहते हैं वे अपना जीवन धन्य बना लेते हैं।

काम और कामी

मोहकर्म उदय में आता है तब वासनाओं का बवंडर वैसे ही आता है जैसे मदिरापान से उन्माद की लहर। पागलपन दोनों में है मगर मोह का पागलपन दुष्प्रतिकार्य एवं अत्यन्त अनर्थकर है।

वासना संसार भर में सब से अधिक भयंकर चमत्कार है। पशु, पक्षी, सुर, नर और अमरेन्द्र पर उसका प्रभुत्व प्रसारित है। जैसे आग में उष्णता, पानी में शीतलता और मिर्च में कटुकता व्याप्त रहती है, इसी प्रकार संसारी प्राणी में वासना तरतम रूप में विद्यमान है।

संस्कृतभाषा में काम को 'मनसिज' भी कहते हैं और 'मन्मथ' भी कहते हैं। यह मन में उत्पन्न होता है और मन का मथन कर देता है।

मन में ही वासनाओं की भयंकर आंधी उत्पन्न होती है। मन को देवता भी कहा जा सकता है और दैत्य भी। उसमें विष और पीयूष दोनों उत्पन्न होते हैं।

मन अनीति की राह पकड़ कर काम को साथ लेकर चल पड़ता है तो आत्मा को दुर्गति के महागर्त में पटक देता है। व आर्य के पथ पर प्रस्थान करता है तो वही मोक्ष तक भी पहुँचा देता है। अतएव साधक को सब से बड़ी सतर्कता मन पर अंकुश स्थापित करना है। जिसने मन को जीत लिया उसने जगत् को जीत लिया क्योंकि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन जीवन का मुख्य सञ्चालक है। वही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है।

काम संसार का उन्मादक समर्थ देवता है। यह कामदेव कहलाता है। यह देवता जिस देह में प्रवेश करता है वह इसी बन्दर की तरह नाचने लगता है। इसके प्रभाव से बड़े-बड़े तपस्वी भी हिल उठे हैं।

तरुणी पार्वती को पार्श्व में स्थित देख कर महादेव का वज्र-कठिन दिल भी हिल गया। कालीदास के शब्दों में शंकर बोल उठे—

अद्य प्रभृत्यवनतांगि ! तवास्मि दासः ।

हे प्रिये ! आज से मैं तेरा दास हूँ ।

जो शंकर कामविजेता कहे जाते हैं उनका ही यह हाल है तो दूसरों की क्या गणना।

जिसके दिल और दिमाग में कामवासना भरी रहती है वह कामी कहलाता है। आचारांगसूत्र में काम और कामी का चित्र खींचते हुए कहा है—

कामा दुरतिक्कमा
जीवियं दुप्पडिवूहगं ।

कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ।

काम वासना का त्याग करना अति विकट काम है और जीवन का एक क्षण भी बढ़ नहीं सकता। (अतएव सतत सावधान रहना चाहिए) जो पुरुष विषयभोगों का अभिलाषी होता है, वह विषय के चले जाने पर अत्यन्त शोक करता है, विलाप करता है, लज्जा और मर्यादा को छोड़ देता है और अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करता है।

यह है संसार के भटकने वाले बावले प्राणियों की अमर कहानी।

भारतीय वाङ्मय ऐसे पात्रों से भरा पड़ा है। उनमें अधिक से अधिक ख्याति प्राप्त करने वालों में लंकाधिपति रावण का नाम आता है। रावण धर्मविज्ञ और नीतिज्ञ था मगर सूर्पनखा के काम भरने से घोर अनर्थ कर बैठा। उसने सती सीता का अपहरण किया। मगर वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। उसकी प्रतिज्ञा थी कि जब तक कोई भी मुझे स्वीकार न कर लेगी मैं किसी स्त्री से संबंध नहीं करूँगा। कवि केसराज (वि० सं० १६८३) ने कहा है—

विन्ध्यो मन्मथ बाण सूं रे, मारति रति मन माहिं।
उठि ने पग लागियो रे, विषम विह्वल थाइ॥
सम्पट सलवायो घणो रे तू क्यों न करे परताप।
अणइच्छती नार नो रे पहिला छे पचताण॥

सीता पग रेखो लियो रे, छूयो नही सिर ताम।
परपुरुष ने आमख्यो रे पाय दियल विएास॥
सीता भाखोने घणु रे, रे रे निलज नरेश।
मुझ आव्या थी साहरी रे विणठी बात विशेष॥

मन्मथ का बाण जब लगता है तब बड़े-बड़े नरवीरों का भी दिल पिघल कर पानी-पानी हो जाता है। नारी हजारों कोस दूर हो तो केवल स्मृति अथवा चित्र मात्र देखने से पुरुष अपने आपको भूल जाता है। बेगवती स्मृति मात्र ही से कामी के देह से पसीना बह निकलता है।

राजा पद्मोत्तर ने नारद के पास से द्रौपदी का चित्र ही तो देखा था। मगर इतने से ही वह बेभान हो गया। द्रौपदी का पातालिक में जाना पड़ा। द्रौपदी का हरण करवा कर पद्मोत्तर ने अपने विनाश को आमंत्रित किया।

कामी कीचक को पाण्डुपुत्र भीम के हाथों मरना पड़ा। इस प्रकार कामी जनों की अनेक दुर्दशा होती रही है। काम का एक मात्र अंकुश सद्‌विद्या है। विकार को सद्‌विचार की ओर मोड़ देना चाहिए और कल्याणजगत् में विचरण करना चाहिए। जो सद्‌विद्या के प्रभाव से मन को प्रशस्त विचारों में व्यस्त रखते हैं वे कामविजय में सफल हो सकते हैं। मन के साथ तन भी व्यस्त रहना चाहिए, क्योंकि काम श्रम भी काम को जीतने में सहायक होता है।

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

काम पर विजय प्राप्त करो दुःख पर विजय प्राप्त हो जाएगी।

विजय की साधना

देह धर्म की साधना और आत्मधर्म की साधना में महान् अन्तर है। साधक दोनों प्रकार के होते है।

विजय की भावना मानव में ही नही प्राणी मात्र में पाई जाती है। पढ़ने वाले पढ़ाई मे व्योपारी धर्नोपार्जन मे और कृषिकार धान्योत्पादन में सबसे आगे रहना चाहता है।

भौतिक विजय पाने के लिये क्या नहीं किया जाता? प्रकृति पर विजय प्राप्त करने वाले बड़े २ पर्वतों को तोड़ फोड़ कर रेलें और मोटरें चला रहे हैं। खेचरों की तरह गगनविहार कर रहे है। विशाल सागर की छाती रौंद कर करोड़ों मन भार को खींच ले जाते हैं। चन्द्र।। पर निवास करने के मंसूबे कर रहे हैं। मगर यह जो भी उथल-पुथल हो रहे है, देहधर्म की साधना है। इस साधना के लिए प्राप्त की जाने वाली विजय सच्ची विजय नहीं है।

गृहस्था श्रम की सकुशल नाव चलाना भी टेढ़ी खीर है। धन कमाने के लिये खून जलाना पड़ता है मांस सुखाना पड़ता है तन के कन कन को स्वेद से आर्द्र करना पड़ता है। परिवार को निभान के लिये जमीन आसमान एक करना पड़ता है। इससे आत्मा का कितना अधःपतन होता है। अध्यात्मियों के सामने इसकी कुछ भी कीमत नहीं है।

विकारों पर अपने मन पर और अपने आप पर विजय पाना ही मानव की सबसे बड़ी साधना है। इस साधना के लिये कला की भारी आवश्यकता है।

सच्चा कला धर्मकला जिणइ ।

संसार भर की कलाओं में धर्म कला बड़ी है कला का अर्थ यहां साधना की विधि है। विधि पूर्वक की जाने वाली धर्म साधना ही विकारों पर विजय पाने मे समर्थ होती है विधि और विवेक के साथ अपनी जीवन में विचरण करने वाला मुनि ही धर्म कलाकार है।

इस तथ्य को विस्मृत करके आज दुनियाँ दूसरी ही तरह की विजय की प्रतिस्पर्द्धा में मतवाली हो रही है। आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर विजय पाने के लिए परमाणुबम उद्जनबम राकेट और मृत्युकिरण का निर्माण कर रहा है। अनेक महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रनायक विश्वप्रभुत्व के स्वप्न ले रहे हैं। एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत विभिन्न राजनीतिज्ञ दल एक दूसरे को पराजित करके विजय प्राप्त करने की कामना कर रहे हैं। एक वर्ग दूसरे वर्ग के दाँत खट्टे करना चाहता है। वैज्ञानिक विजिगीषु राजनयिकों की सहायता के लिए इस प्रकार संहार की सामग्री जुटा रहे हैं। मगर सन्तों की विचारधारा दूसरी ही दिशा में बहती है। वे कहते हैं—

> अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥
>
> —उत्तराध्ययन

अपनी आत्मा के साथ युद्ध करो। दूसरों के साथ युद्ध करने से कुछ भी हासिल होने वाला नहीं है। जो अपनी आत्मा के द्वारा अपने को जीत लेता है वही सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

यह आत्मविजय कोई साधारण विजय नहीं है। मनुष्य के लिए यही सर्वोत्तम विजय है। लाखों दुर्जय शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा सिर्फ अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है—

> जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥

जगत् के महान् मनीषियों की यह है विजयसाधना। वे शत्रु पर विजय प्राप्त करने की कामना नहीं करते क्योंकि उनका शत्रु कोई होता ही नहीं। जो अनाहूत शत्रुता जनक है उसी को जीतने का प्रयास करते हैं। फलतः सम्पूर्ण जगत् उनका मित्र हो जाता है। पर शत्रु को जीतने के प्रयास में दूसरा नये शत्रु बन जाते हैं मगर आत्मा को जीत लेने पर शत्रु को जीतने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। यही सच्ची आत्मा की सच्ची विजयसाधना है।

गृहस्थधर्म

'दुवालसविहे गिहिधम्मे।

गृहस्थधर्म द्वादश प्रकार का है जिसमें गृहस्थ के योग्य अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के साथ दिग्व्रत आदि सात शीलों का समावेश होता है।

अहिंसा आदि व्रत मानव मात्र के लिए उपयोगी हैं। उनका दायरा किसी सम्प्रदाय पंथ या जाति तक सीमित नहीं है। जो भी गृहस्थ इन व्रतों का पालन करता है वह 'श्रावक' कहलाता है। श्रावक अभिगतजीवाजीव अर्थात् जीव और अजीव के अन्तर को भलीभांति जानने वाला होता है यावत् इतना दृढ श्रद्धालु कि देव भी उसे अपने धर्म से च्युत नहीं कर सकता। कामदेव एवं अर्हन्नक श्रावकों के लिए आदर्श हैं।

भगवान् महावीर के समय के श्रावकों में जिनका उल्लेख आगम में है आनन्द का नाम प्रथम है। जिनवाणी श्रवण कर उपाध्याय कविश्री के शब्दों में आनन्द का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसके मन में बिजलियाँ चमकने लगी। हृदय प्रकाश से परिपूर्ण हो गया।

और- पहली बार ही वाणी सुनी तो गद्‌गद् हो गया। उसके जीवन का कण-कण जाग उठा।

यह है श्रावक के अन्तःकरण का चित्रण! आज ऐसे नरवीर दुर्लभ हैं।

शास्त्रोक्त मर्यादा का पालन करने वाले सन्त महन्त को देखा। उनका जीवन समुज्ज्वल इसलिए था कि वे कमल की तरह संसार से अलग-अलग रहते थे।

उत्तराध्ययन में भगवान् ने कहा—

सति एगेहि भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।

अर्थात्—किन्ही-किन्ही भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थश्रावक अधिक संयम शील होते है।

इस सत्य का उदाहरण मैंने देहली में देखा। सेठ मोहनलाल नामक एक सज्जन थे बड़े सरल स्वभाव के और साथ ही ज्ञानवान् भी।

मोहनलालजी वृद्ध एवं स्वाध्यायी थे। एक वर्ष में ३२ मूल आगमों का पाठ करते। सन्यासी होने से धर्म भी समझते थे। बड़े निरभिमान और बड़े दृढ़धर्मी।

मर्यादा प्रकृति की देन है। इसमें मजेदार बात यह कि मानव की अपेक्षा कम विकसित चेतना वाले मनुष्येतर प्राणी मर्यादापालन में अधिक दृढ़ होते हैं। चकवी वियोग से दुखी होते हुए भी पति के साथ रात्रिनिवास नहीं करती। यह उसकी मर्यादा है। इस मर्यादा का पालन किये बिना वह रह नहीं सकता।

साँझ पड़ै दिन आथम्यो चकवी दीधी रोय।

चल चकवा वह आइए, रात-दिवस ना होय॥

पशुओं की ओर दृष्टि डालिए। ज्ञात होगा वे प्रकृति के नियमों की मनुष्य की तरह अवहेलना नहीं करते। रुग्ण होने पर खाना छोड़ देते है। मनुष्य की भाँति अनियमित विषयसेवन नहीं करते। उनके जीवन में जो मर्यादापालन देखा जाता है, वह साधारण मानव के जीवन में कहाँ है? यह सब देखते हुए निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने विचार और विवेक का जितना दुरुपयोग करता है उतना अन्य प्राणी नहीं करते। यही कारण है कि रोगों का जितना आक्रमण मनुष्य पर होता है उतना पशुओं और पक्षियों पर नहीं।

प्रकृति के कण-कण में मर्यादा है। शरीर के अंग-अंग में मर्यादा है। कदम-कदम पर मर्यादा है। मर्यादा के बल पर ही आज हम मंगलमय जीवन व्यतीत कर रहे है। प्रकृति मर्यादाभंग को कभी सहन नहीं करती। जो उसकी मर्यादा का पालन करते है प्रकृति उनका पालन करती है।

स्वर्ग-नरक की झांकियाँ

गाँधी हॉस्पिटल

एक दिन कारणवश हम गांधी-हॉस्पिटल में जा पहुँचे। द्वार पर अंकित देखा—

'यतो धर्मस्ततो जय'।

और—'रणबंका राठौर'।

अन्दर प्रवेश करते ही प्रथम बार ऐसा महसूस होता है मानों अजायबघर हो!

प्रवेशद्वार के सम्मुख गांधीजी की मूर्ति है जो मानों आने-जाने वाले मरीजों को मौनभाव से उपदेश अथवा आशीर्वाद दे रही है कि—'धर्म के लिए, राष्ट्र तथा देश के लिए, स्वहित और परहित के लिए मनुष्य को स्वस्थ रहना चाहिए। ऐ भारत के नर-नारियो! स्वस्थ रहने का प्रयत्न करो।'

उस विशालकाय भव्य भवन की एक मजेदार विशेषता यह है कि मुख्य द्वार में किवाड़ नहीं है। सड़क से जाने वाला सीधा बरामदों में होता हुआ छत पर जा सकता है। वहीं कोई किवाड़ उसके पथ का प्रतिरोध करने के लिए उपस्थित नहीं है। हाँ दरबान निरन्तर रहता है। यहाँ पशु नहीं जा सकते मानव मात्र को जाने का अधिकार है।

[illegible] भविष्यति इस भवन के द्वारों में किवाड़ न होने का हेतु अवश्य है। [illegible] महाराजा उम्मेदसिंहजी इसके निर्माता थे। राजस्थानी भाषा का [illegible] है—'राजपूतों की कुणी पोल' अर्थात् क्षत्रिय के घर में कोई भी भूखा भोजन पाने की इच्छा से जा सकता है। उन्हें किसी की मनाई नहीं।

अब इसी प्रकार इस अस्पताल में जा कोई भी सकता है। उसके द्वार सब के लिए खुले हैं। और जब द्वार खुले हैं तो किवाड़ों की आवश्यकता ही क्या है?

भवन के इर्दगिर्द सुरम्य वाटिका शोभायमान है। उस वाटिका में हालिया मेंहदी कर्णिकार, मास गुल्म इकमीया काली पिरोटन हरित पिरोटम पाऊली आदि के अनेक पौधे और वृक्ष हैं। इस वृक्षावली का संस्पर्श पाकर सगुण गन्ध सुरभित बनी हुई शीतल मन्द वायु मरीजों को स्वस्थ बनाने में सहायता पहुँचाती है, मानों उनके शरीर मे नूतन प्राण का संचार करती है अथवा मूर्छित हुए प्राणों को होश में लाने को प्रयत्नशील रहती है।

भवन के मध्य में लिफ्ट (चढ़ने उतरने का हौवा) लगा है जो इस तथ्य को इंगित करता जान पड़ता है कि दर्द म व्याकुल दुखियों के दर्द को दूर करने वाले निस्पृह सेवक इस प्रकार स्वर्ग-मार्ग पर जाते हैं।

भीतर-बाहर की सफाई और स्वच्छता को देख कर दर्शकों का चित्त विभोर हो जाता है। *मालूम होता है जैसे स्वर्ग यहीं उतर आया हो।*

शास्त्र के उल्लेख के अनुसार स्वर्ग मे देवशय्या होती है। उस अस्पताल मे भी प्रत्येक कमरे में अनेक शय्याएं हैं जिन पर मरीज शयन करते हैं और देवियों के समान सेवापरायण शुभ्रवेषधारिणी नर्सें सेवा में समुपस्थित रहती हैं।

इस प्रकार दूर से देखने पर स्वर्ग की झांकी का आभास होता है। परन्तु समीप जाने पर राम राम है।

आह् कितना बीभत्स तथा भयानक दृश्य! जब बवासीर, नासूर या मूत्रग्रन्थि की शल्यक्रिया (ऑपरेशन) होती है, तब साक्षात् नरक का स्मरण हो आता है। मरीज को दुरवस्था देख कर कठोर हृदय भी पानी-पानी हो जाता है। मल या प्रस्रवण त्याग के समय मरीज को जो दुस्सह वेदना होती है वह अधोलोकवासी प्राणियों की वेदना का यत्किंचित् आभास करा देती है।

शल्यक्रिया के समय मानव के उस अभिमान का दिवाला निकल जाता है, जो अपने शरीर को सौन्दर्य का आगार समझ कर इठला रहा था! कितना अभिमान करता है मनुष्य अपने शरीर का! मगर जब सर्जन उसकी चमड़ी को हटाता है और अपने धारदार शस्त्रों से मांस नोंचता है आंतें या हड्डियां काटता है तब शारीरिक सौन्दर्य की पोल खुल जाती है। शरीर का सच्चा और भीतरी रूप सामने आ जाता है। उस समय अशुचित्व अनुप्रेक्षा की यथार्थता जैसे साकार हो उठती है और अन्तःकरण कराह उठता है—अरे आत्मन्! क्या तू इसी शरीर पर मुग्ध होकर विषय-वासना के कीचड़ में फंसना चाहता है! वे मुनिजन धन्य हैं

जो शरीर की अशुचिता और बीभत्सता का ज्ञान कर इस पर ममता नहीं करते और शरीर से सदा के लिए मुक्ति पाने के अनुष्ठान में ही इसका उपयोग करते हैं।

अस्पताल में धनी निर्धन अनाथ सनाथ सब की सेवा होती है। मनुष्य सेवाधर्म का अनुशीलन करना है तो अस्पताल उसके लिए उपयुक्त स्थान है।

निस्वार्थ और निस्पृह भाव से कोई सेवा करे तो वह इसी भूतल पर देवता बन सकता है।

जो मरीज अधिक सड़े हैं उन्हें खास के कमरों में एकान्त में रक्खा जाता है। उपचार खूब होता है तथापि अभागा की दुर्दशा है।

वैराग्य का ऐसा स्थान पाकर ज्ञानी जन प्रथम वैराग्य की वृद्धि करते हैं अज्ञानी रमते हैं। एक ही दृश्य दर्शक की भावना के अनुसार विविध प्रकार के परिणाम उत्पन्न करता है।

अनमोल बोल

भाषानुसार हाथ से काम करने वाला मजदूर है। हाथ और मस्तिष्क से काम करने वाला कारीगर है। हाथ मस्तिष्क और हृदय से काम करने वाला कलाकार है।

* * * *

संसार में तीन रत्न अनमोल हैं—

जलमन्नं सुभाषितम्।

शरीर की खुराक अन्न और जल है तो मस्तिष्क की खुराक है सुभाषित वाणी। पेट भरना प्राणीमात्र का काम है किन्तु सुभाषित वाणी का रसास्वादन एवं ज्ञान-गंगा में अवगाहन तो नरदेहधारी ही कर सकता है। मानव की मूल *विचारधारा का यह स्रोत है—*

हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ?
शुं स्वरूप छे म्हारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ?
राखुं के ए परिहरुं ?
एना विचार—विवेकपूर्वक शान्तभावे जो कर्या
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धान्ततत्त्व अनुभव्यां॥

श्रीमद् राजचन्द्र आध्यात्मिक योगी था। संक्षिप्त एवं सारगर्भित वाणी कह गया।

* * * *

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

यह महान् उद्बोधन प्रथमांग—आचारांग—में है। चाणक्य आदि नीतियों ने कहा— *यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च।* जो कोई भी *मिले* उसे मित्र-सहायक बना लो—सैकड़ों मित्र बना लो।

मगर महावीर की वाणी निराली है। वे कहते हैं—'अरे पुरुष! तू अपना मित्र आप ही है। अपने से बाहर क्यों मित्र की तलाश करता फिरता है?

आशय स्पष्ट है। अपना उत्थान और पतन अपने ही ऊपर निर्भर है। आत्मा जब स्वभावदशा में आता है तो स्वयं सुखी बन जाता है। विभावदशा में आकर वह अपने दुःखों की सृष्टि करता है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

जे आसवा ते परिस्सवा
जे परिस्सवा ते आसवा।

यह वस्तु की विविधरूपता का सारपूर्ण चित्रण है। साधक की विवेक दृष्टि जागृत है तो वह कर्म के आस्रव के कारणों को भी निर्जरा का कारण बना लेता है और यदि उसके हाथ में विवेक की तराजू नहीं है तो कर्मनिर्जरा के कारण भी उसके लिए आस्रव के कारण बन जाते हैं।

खून की नदी बहाने वाला अर्जुन माली और प्रभव जैसा डाकू भी आस्रव के पथ का परित्याग करके निर्जरा के कल्याणपथ के पथिक बने। उधर कण्डरीक निर्जरापथ का अनुयायी होकर आखिर आस्रव के कर्मपथ पर चल पड़ा। परिणाम क्या हुआ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

जे आया से विन्नाया
जे विन्नाया से आया।

जो आत्मा है वही विज्ञान है और जो विज्ञान है वही आत्मा है।

आत्मा का स्वरूप समझना जितना कठिन उतना ही आसान भी है। वह इन्द्रियागोचर है अमूर्तिक और अनाकार है फिर भी स्वानुभवसिद्ध है।

आत्मा की सत्ता और अमरता पर हमें विश्वास रखना चाहिए और उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

तक्का तत्थ न विज्जइ।

मुक्तात्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य तर्क के तीखे तीर चला कर उसे समझ नहीं सकता। तर्क का प्रवेश ही नहीं है। जिसने उसे जाना

पहचाना? अनुभव के अलौकिक नेत्रों से ही जाना-पहचाना है। जो आगेगा अनुभव से ही जाना जायेगा। जब तक अनुभव नहीं पाया है तब तक सर्वज्ञ के वचन पर विश्वास करना होगा। तर्क-वितर्क के चक्कर में पड़ कर मनुष्य श्रद्धा का अवसर भी खो बैठता है।

✽ ✽ ✽ ✽ ✽

कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव ।

क्रोध मान माया और लोभ यह चार कषाय हैं। यही संसार के मूल कारण हैं और मुक्ति के प्रतिबन्धक हैं। इनसे पूर्णतया छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है।

✽ ✽ ✽ ✽ ✽

अशुभ विचार और आचार ही रुलाता है। मन चंगा तो कठौती में गंगा है।

जब तेरी अपेक्षियों का खात्मा हो जाएगा।
तब तेरा ही आत्मा परमात्मा बन जाएगा।

✽ ✽ ✽ ✽ ✽

भेदविज्ञान के बल से जड़-चेतन का निर्णय कर आत्म-धर्म की आराधना करो। संसार-सागर से पार उतरने का यही उपाय है। यही जिनधर्म है। जन्म मरण के चक्र पर रोक लगाने का यही साधन है।

जिनवचनों में अनुराग रखने वाला और उनके अनुसार आचरण करने वाला निर्मल चित्त वाला और किसी प्रकार का क्लेश न करने वाला आनन्द में रहता है। वह परीत-संसारी कहा जाता है—

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते हुंति परीतसंसारी॥

उत्तरा० ३६ २५८

समाज का दर्पण—

साहित्य

देह की खुराक अन्न है और मस्तिष्क का पोषण साहित्य करता है। साहित्य समाज के मानसिक धरातल को नापने का फीता है। मानवजाति का मौलिक धन है।

जो शक्ति साहित्य में है वह तोपों और तलवारों में नहीं देवों और दानवों में भी नहीं। साहित्य जीवननिर्माण में प्रधान कारण बनता है, जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर देता है। वह क्रांति का जनक है, शांति का प्रसारक है।

साहित्य की प्रत्येक धारा की एक विशिष्ट पृष्ठभूमि होती है। उसी के अनुसार उसकी रचना होती है। जैनसाहित्य की पृष्ठभूमि स्याद्वाद है। स्याद्वाद की आधारभूमिका पर जैनसाहित्य का निर्माण हुआ है। एक वस्तु में अनेक धर्मों गुणों की प्रामाणिकता सिद्ध करना स्याद्वाद-सिद्धांत का उद्देश्य है। आचार्य श्री आत्मारामजी म. लिखते हैं—

'जैनागमों में प्रत्येक पदार्थ को गुण-पर्याययुक्त माना गया है। यही जैन साहित्य की भूमिका है। इसी स्याद्वाद की भूमिका पर आगमों की रचना हुई है। आगमों के संबंध में हम पर्याप्त विचार कर चुके हैं।

यद्यपि हमारे साहित्य का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो चुका है फिर भी आज उपलब्ध जैनसाहित्य अपनी गरिमा लिये है और एक उच्च [illegible] सात्त्विक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।

स्थानकवासी परम्परा में प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य का एक बड़ा भंडार है। कथासाहित्य, प्रचारसाहित्य, विचारसाहित्य [illegible] में प्रकाशित धर्मसाहित्य तथा आचार्य श्री आत्मारामजी म. का साहित्य प्रकाश में आ चुका है।

फिर भी युगानुक्रम उच्चकोटि के साहित्य की अतीव आवश्यकता है। कतिपय ऐसे ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिए जिनमें जैन तत्त्वों का मौलिक विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक निरूपण हो। इसके लिए स्वमजा के मनीषी साहित्यकारों को आगे आना चाहिए।

स्थानकवासी समाज श्रीसम्पन्न है परन्तु साहित्य की ओर उसमें कम अभिरुचि देखी जाती है। यही कारण है कि साहित्य और साहित्यकारों को जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए, नहीं मिल रहा है। इससे साहित्यसमृद्धि की वृद्धि में बाधा उपस्थित होती है। उचित है कि एक साहित्यिक संस्था का निर्माण किया जाय और उसकी देखरेख में साहित्य का निर्माण हो। समाचारपत्र भी साहित्य का एक अंग है। उनके स्तर को भी ऊँचा उठाया जाय और उनमें आक्षेपात्मक हल्की भाषा का प्रयोग न किया जाय।

योजनानुसार उच्च स्तर पर साहित्यरचना की व्यवस्था हो तो जो द्रव्य आज व्यय हो रहा है उसी से बड़ा काम हो सकता है।

धार्मिक शिक्षा

शिक्षा जीवन की वह विशिष्टता है जिसके अभाव में नर वानर के समान समझा जाता है। कहा है—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।

लौकिक दृष्टि से संगीतकला की जितनी उपयोगिता है उससे हजार गुनी उपयोगिता लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से धार्मिक कला की है। शास्त्रकार कहते हैं—

सव्वा कला धम्मकला जिणेइ।

धर्मकला समस्त कलाओं से उच्च एवं महान् है। उस कला को प्राप्त करने के लिए धर्मशिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। धार्मिक शिक्षा जीवन में [illegible] परिवर्तन ले आती है।

जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म० के शब्दों में—"जिस शिक्षा की बदौलत दरिद्रों के प्रति स्नेह सहानुभूति और करुणाभाव जागृत होता है जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुत्व की दिव्य ज्योति अन्तःकरण में जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

शिक्षा सत्संस्कारों की जनक होनी चाहिए। उसमें धर्मभाव ओतप्रोत होना चाहिए। मगर इसका आशय यह नहीं कि उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता या बाड़ाबंदी की हीनता हो। सच्ची धार्मिकता प्रत्येक क्रिया में समता रखना है—

समयं चरे समयं चिट्ठे।

उठना बैठना आदि जो भी क्रियाएं [illegible] विवेक का गुण उनमें होना चाहिए। यही जैनधर्म है यही जैनशिक्षा है। जैनशिक्षा में जीव मात्र के प्रति [illegible] रखना सिखलाया जाता है। सत्य अहिंसा सदाचार एवं यम-नियम आदि की

मर्यादा समझाई जाती है। अतः मानवीय जीवन में जैनशिक्षा की भारी आवश्यकता है। जीवन मे पराधीनता एवं प्रमाद बढ़ाने वाली तथा स्वार्थलिप्सा बढ़ाने वाली शिक्षा की हमे आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार की सच्ची शिक्षा देने वाले शिक्षक ही महान् शिक्षक है। पूज्य श्री जवाहरलालजी म० ने कहा है—

'सच्चे शिक्षकों की बदौलत ससार को श्रेष्ठ विभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं। ससार का उत्थान करने वाली महान् शक्तियों के जन्मदाता शिक्षक ही हैं। शिक्षक मनुष्यशरीर के ढांचे मे मनुष्यता उत्पन्न करते हैं। शिक्षक का पद जितना ऊँचा है उसका कर्तव्य भी उतना ही महान् है। (नवरत्न)

हमारे समाज में बहुत पुराने समय से ही शिक्षा-शैली सुन्दर ढंग से चली आ रही है फिर भी समय का ख्याल करके वर्तमान परम्परा मे सुधार करना आवश्यक है।

प्राचीन समय में साधुवर्ग मे गृहस्थ (अमयमी) से पढ़ना उचित नहीं समझा जाता था। शिष्य अपने गुरु साधु के समीप ही पढ़ते थे। श्रावक जन भी गुरुओं से जीवाजीव का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करते थे। मध्ययुग में अध्यापकों के पास पढ़ना प्रारम्भ किया गया। अध्यापकों से पढ़ने की परम्परा को सर्वप्रथम पूज्य श्री जवाहरलालजी म० ने प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह आया कि हमारे यहाँ व्याकरण न्याय आदि विविध विषयों के विद्वान् मुनियों की अच्छी सख्या तैयार हो सकी।

पण्डितों से समयानुसार ज्ञान का लाभ लेना चाहिए, यह मै मानता हूँ मगर इस बात का पूरा ध्यान रखना भी आवश्यक है कि हमारे विचारों की मौलिकता एवं श्रद्धा कायम रहे। श्रद्धा को विकृत कर देने वाली शिक्षा कदापि उपयोगी नहीं हो सकती।

धार्मिक शिक्षा वह सुराक है जिसके द्वारा समाज, राष्ट्र एवं देश का भविष्य समुज्ज्वल बनता है।

निमित्त स्नेह के धागे उलझते जा रहे हैं। हमारे समाज को झकझोरने वाले जो मूल तत्व है, वे नियमित नहीं हो रहे हैं। यदि इस स्थिति को कुशलतापूर्वक नहीं समाया गया तो समाज को कल्पनातीत हानि पहुँचने की संभावना स्वाभाविक है।

विराट् जनसमूह पर शासन करना मानो काला नाग खिलाना है। 'उचित रीति से शासन करने वाले को बहुत सुनना और कम बोलना चाहिए।' ऐसा करने से शास्ता को सफलता-श्री स्वयंवरण करती है। जैन जगत् में स्नेह शान्ति एवं सहयोग का भावनाएं ओतप्रोत होनी चाहिए।

पशुओं और पक्षियों के समूह में भी संगठन की भावनाएं देखी जाती हैं मगर मनुष्य और पशु-पक्षियों के संगठन में भारी अन्तर है। उनका संगठन भय और मोह के कारण है। अगर मनुष्यों का संगठन भी सिर्फ इसी उद्देश्य से हो तो उसकी कोई विशेषता नहीं है। मानवसंगठन होना चाहिए किसी महान् ध्येय की प्राप्ति के लिए। अपनी गौरव-गाथा को सुरक्षित रखने के लिए, उसमें नवीन पृष्ठ जोड़ने के लिए, अपनी यशोकीर्ति की रक्षा के लिए।

व्यक्ति कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो उसकी शक्ति एक सीमा के अन्दर ही रहती है। वह समूह जितना विराट् नहीं बन सकता। अतएव व्यक्ति की शक्ति के अधूरेपन को दूर करना संगठन का उद्देश्य है। संगठन में रहा हुआ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से शक्ति प्राप्त करता है। सामूहिक शक्ति उसे सबल और प्रबल बनाती है। तभी किसी महान् उद्देश्य में सफलता मिलती है।

संगठन के अभाव मे व्यक्ति व्यक्ति ही रहता है संगठन प्रत्येक व्यक्ति को 'समूह' बना देता है।

बिखरी शक्तियाँ बलहीन होती हैं। वे किसी भी बृहत् योजना को कार्यान्वित नहीं कर सकती। इसी कारण तीर्थंकर देव संघ की स्थापना करते हैं। यदि भगवान् महावीर ने संघ की स्थापना न की होती तो आज भगवान् की वह अक्षय निधि हमें प्राप्त होती इसमें काफी संदेह है बल्कि कहना चाहिए कि वह कभी की काल का कवल बन गई होती। संघ के प्रताप से ही भगवान् के मुख-चन्द्र से निकला अमृत का पान आज हम कर रहे हैं।

भगवान् के द्वारा स्थापित संघ नाम मात्र का संघ नहीं था। उसमें सजीवता थी। घनिष्ठता थी आत्मीयता थी और पारस्परिक अपूर्णता को पूर्ण कर देने की शक्ति थी। मगर आज भगवान् का वही सजीव संघ क्या निष्प्राण नहीं बनता जा रहा है? यह परिस्थिति न केवल मम के लिये अपितु अखिल विश्व के लिए दुर्दैव रूप है।

आज संघ में जो प्रभावशाली हैं उन्हें अपने गुरुतर दायित्व का विचार करना चाहिए और टूटी कड़ियों को जोड़ कर संघ को शक्तिमान् बनाना चाहिए।

प्रवचन शैलियाँ

विचार वाणी और वपु वक्ता में विशेषता उत्पन्न करते हैं। यह तीन चीजें जिस वक्ता में जितनी विशिष्ट होंगी उसके वक्तृत्व का विकास उतना ही अधिक होगा। वक्तृत्व की शैली वक्ता की विचारधारा के अनुसार होती है। विषय भी शैली में भेद उत्पन्न कर देता है। तात्त्विक प्रवचन की शैली कुछ भिन्न प्रकार की होती है। उसमें चोचलापन नहीं गंभीरता होती है।

भगवान् महावीर की प्रवचनशैली असाधारण थी। उसका किंचित् परिचय हमें औपपातिकसूत्र से मिलता है। वहाँ भगवान् की ध्वनि के विषय में कहा गया है—'सारयनव त्थणियमहुरगंभीर' अर्थात् वह शरत्कालीन नवल मेघ की गर्जना के समान मधुर एवं गंभीर होती थी। भगवान् तत्कालीन लोकप्रचलित अर्द्ध मागधी भाषा में प्रवचन करते थे। उनकी वाणी की विशेषताएं पैंतीस अतिशयों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः उस वाणी की असाधारण महत्ता विशदता और गंभीरता को प्रकट करने में यह लेखिनी समर्थ नहीं है।

भगवान् की धर्मकथा की परम्परा आज ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी चलती आ रही है।

भगवान् के प्रवचनों को गणधरों ने सूत्र के रूप में निबद्ध किया था। वे सूत्र महान् मनीषी आचार्यों के स्मृतिभण्डार में एक हजार वर्ष पर्यन्त चलते रहे। श्री सुधर्मा स्वामी से लेकर बत्तीसवें पट्टधर श्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमण तक मौखिक रूप में ही प्रचलित रहे।

स्मरणशक्ति की क्षीणता देख देवर्धि प्रभु ने उन्हें लिपिबद्ध किया। सर्व प्रथम भद्रबाहु स्वामी ने उनकी व्याख्या की जो निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। समाज पर उनका यह महान् उपकार था। तत्पश्चात् संघदास गणी जिनभद्र गणी जैसे महापुरुषों ने उन पर भाष्य तैयार किए।

विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने युग के अनुसार विविध शैलियों में उन सूत्रों पर संस्कृत भाषा में अनेक टीकाओं का निर्माण किया। इस प्रकार मूल आगम प्राकृत एवं संस्कृत व्याख्याओं से विभूषित हुए।

मध्ययुग में राजस्थानी भाषा में गद्य-पद्य की शैली रही। इस शैली के लेखकों एवं वक्ताओं में पूज्य अमरसिंहजी म० पूज्य श्री जयमलजी म० प्रसिद्ध कलम कलाधर जीतमलजी म० श्री चौथमलजी म० श्री नेमिचन्द्रजी म० आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी भाषायुग के प्रथम वक्ता सम्भवतः पूज्य श्री जवाहरलालजी म० थे। उनके पश्चात् स्थानकवासी समाज में अनेक प्रवचनकर्त्ता हैं जो नूतन शैली मे प्रवचन करते है। उनके प्रवचनों की बानगी संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—

'विश्व के प्राय सभी धर्मों दर्शनों विचारधाराओं वादों और ज्ञान विज्ञानों का चरम और परम लक्ष्य है—मानवजीवन को सर्वश्रेष्ठ बनाना मनुष्य के अन्दर मनुष्यता जगा कर उसे देवत्व और भगवत्व तक पहुँचा देना।

—मन्त्री श्री पुष्कर मुनिजी म०।

'भारत बीच में भूल कर अब तप की महिमा और अहिंसा की शक्ति को फिर समझ रहा है। वह महावीर भगवान् के सिद्धान्तों की ओर झुक रहा है। ——अगर आपके हृदय में इस प्रकार की भावना बद्धमूल हो गई कि मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसके प्रति दुर्व्यवहार करना परमात्मा के प्रति दुर्व्यवहार करना है तो आप थोड़े ही दिनों में परमात्मा के सच्चे उपासक बन जाएंगे।

'शरीर मे मस्तिष्क का जो स्थान है समाज मे शिक्षक का भी वही स्थान है। पर सब से ऊँचा स्थान बच्चे के जीवननिर्माण में माता का है।

बहिनें पुत्र तो चाहती हैं पर यह नहीं जानना चाहती कि पुत्र कैसा होना चाहिए ?——इस बात पर ध्यान न देने से उनका पुत्र उत्पन्न करना व्यर्थ हो जाता है। ——माता अपने बालक को जैसा चाहे बना सकती है। माता चाहे तो अपने बालक को वीर भी बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है। ——

—पूज्य जवाहरलालजी महाराज

यह संसार कैसा भी रहे लेकिन तुम्हारे जीवन की प्रतिभा चमके। तुम्हारे जीवन की प्रतिभा का प्रकाश इस अंधेरी दुनियाँ में पड़ेगा तो यहाँ पर भी यह संसार जगमगाएगा और यह संसार जो नरक जैसा दिखता है उसमें भी स्वर्ग

में बदलने में आपको देर नहीं लगेगी। इस संसार को यहाँ ठीक बना लिया तो यहाँ कहीं भी जाओगे तुम्हारा संसार भी वहाँ मंगलमय रहेगा। वहाँ भी तुम आनन्द मंगल में रहोगे। यहाँ से पहले जीवन का प्रकाश लेकर जाओगे तो उस अंधेरी दुनियाँ में भी यह प्रकाश तुम्हारे जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनाएगा— प्रकाशमय कर देगा।

—'प्रकाश की ओर

जीवन क्या है? परस्पर विरोधी तूफानों का संघर्ष। जो इस सागर में पड़ा रहा, बहता रहा, भूमा भटका नहीं वही शेर है बाकी सब गीदड़।

'वीर और कायर में क्या अन्तर है? सिर्फ एक कदम का।' 'साधक' मृत्यु से डरता है? क्या वह कोई भयानक वस्तु है? मूढ़! तेरी भूल ही तुझे तंग कर रही है। मृत्यु कुछ नहीं एक परिवर्तन है। इस परिवर्तन से यह जग या वातावरण में लगा रहा।

इस जीवन का लक्ष्य नहीं है शान्तिभवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।

—उपाध्याय श्री अमर मुनि।

सज्जनो! आपको बड़ा उत्तम अवसर मिला है। ऐसा अवसर अनन्त अनन्त आत्माओं को अनादि काल से अब तक एक बार भी नहीं मिला है। आप अत्यन्त भाग्यशाली हैं कि इस अवसर को प्राप्त कर सके हैं। आपको आर्यक्षेत्र मनुष्यभव उत्तम कुल सम्यग आदि उत्तम निमित्त मिल गए हैं।

—जैनसुधा भाग ११

अगर पुराने पत्ते वृक्ष की डाली पर जोंक की तरह मजबूती जमा कर बैठे रहें तो नवीन पत्तों कोंपलों को कहाँ स्थान मिलेगा? उस हालत में प्रकृति की सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाएगी। इसीलिए पतझड़काल में पत्तागमन का अजस्र प्रवाह चल रहा है। मानव के संबंध में भी यही बात है। जो आता है वह जाने वाला है।

मेरे जीवन की जंजीर के टुकड़े कर डालने वाले स्वर्गीय गुरु श्री ताराचन्द्रजी म० के विरह में मेरे लिए दुःखपूर्ण वातावरण सृष्टि होने—

की भोषा में—पूज्य गुरुदेव अपनी बात इस प्रकार कहते थे कि श्रोताओं के कर्णकुहरों में होकर वह उनके हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श करती थी। कभी-कभी विषय को सरस सरस और सुबोध बनाने के लिए लोक-कथाओं का एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करते थे ? जिन्हें सुनकर हसी के फव्वारे छूट जाते थे।

यह सन्दर्भ मैंने विभिन्न पुस्तकों से उद्धृत किए हैं। हमारे स्थानकवासी समाज में बड़े-बड़े क्रान्तिकारी प्रसिद्ध वक्ता हो गए हैं। श्रीमज्जैनाचार्य अमरसिंहजी म० ने मारवाड़ प्रान्त में मनोरम प्रयत्न करके स्था जैनधर्म की नींव डाली थी। यह वि० सं ॥१८११ की घटना है। आपने अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा जनता का हृदय परिवर्तन किया।

आपके तीसरे पट्ट पर श्री जीतमलजी म० हुए। श्री जीतमलजी म० ने अपने जीवनकाल में १३ ० ग्रन्थों की प्रतिलिपि की। जोधपुर के राजा मानसिंह को एक चने की डाल जितनी जगह में १०८ हाथी बनाकर उपदेश दिया। राजा आपसे अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने मुनिगुणगान करते हुए सवैया बनाया—

❁ सवैया ❁

काहू को न आस राखे काहू से न दीन भाखे
करत प्रणाम ताको राजा राणा जै बड़ा।
सीधी सी आरोगे रोटी बैठा बात करे मोटी
ओढ़न को देखो जाके धोला सा पछेवड़ा ॥
खमा-खमा करे लोक हिये नहिं राखे शोक
बाजे न मृदंग चंग जग जाप जै बड़ा।
कहे राजा मानसिंह दिल में विचार देखो
दुःखी तो सकल जन सुखी जग सेवड़ा ॥

प्रवचनों की कुछ शैलियों के नमूने यहाँ दिखलाये गए हैं। शैली देश और काल के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। प्राचीन पद्धति आज बहुत अंशों में पलट गई है। तथापि प्रवचन का मूलाधार जो पहले था वही आज है और वही आगे रहेगा। सिद्धान्त शाश्वत है मगर उसका निरूपण युग की भाषा और शैली के अनुरूप ही होता है।

*विशेष परिचय के लिए देखिए अमर धर्म कल्पतरु

अन्धश्रद्धा का पुट लगा रहता है। इसी कारण उसमें चमक नहीं आती। श्राविका समाज में ज्ञानपूर्वक क्रिया की आवश्यकता है। रूढ़िवाद एवं जड़तामय भावनाओं मे ज्ञान ही परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है।

श्रावकों में आज पारस्परिक विवाद की जितनी अधिकता है उतनी धार्मिक ज्ञान की जिज्ञासा नहीं। उन्हें उस मार्ग पर चलना चाहिए जिससे समाज का उत्थान और संगठन मजबूत बने। संकीर्णता के दिन लद गए हैं। अब विशाल भावना का उदय होना ही चाहिए।

साधुसमाज में भी आज एकता और संगठन की सजीव भावना कहाँ दृष्टिगोचर होती है? ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रयोग करने या न करने के प्रश्न को लेकर जो तूफान खड़ा हुआ है वह कितना अशोभनीय है?

जब अनेकता और अन्धविश्वास धार्मिक क्षेत्र में प्रकट होता है तो आधुनिक युवक हमसे दूर भागता है। उन्हें निकट और निकटतर लाने के लिए हमें अपनी आलोचना करनी होगी एवं आवश्यक सामग्री जुटानी होगी।

साध्वीसंघ की व्यवस्था स्वतंत्र होनी चाहिए। उनका श्रमणीसंघ श्रमणसंघ के साथ सम्बद्ध तो हो मगर उसका संचालन किसी प्रमुख साध्वी के नेतृत्व मे ही हो। सेवा विहार शिक्षा आदि की सुव्यवस्था होनी चाहिए। पारस्परिक विनय एवं वात्सल्य के संस्कारों पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

श्रमणसंघ प्रारम्भ मे कुछ वर्षों तक सुचारु रूप से चला मगर कतिपय नगण्य प्रश्नों ने उसे झकझोर दिया और आज वह विषम स्थिति में गुजर रहा है।

आशा अमर धन है। रस्सी कुए मे चली जाय और यदि चार अंगुल भी हाथ मे रहे तो चिन्ता नहीं। वह पुनः निकाली जा सकती है। श्रमणसंघ की समस्याएं ऐसी नहीं कि समाधान ही न हो। हमारे मूर्धन्य मनीषी मुनिराज संघ के हित को सर्वोपरि समझ कर समुचित विचारणा करके संगठन को सबल बनाएंगे ऐसी आशा है।

चतुर्विध संघ का सर्वोपरि नेता एक हो और उसी के आदेशों को अन्तिम मान कर चला जाय। यही समाज के, शासन के धर्म के अभ्युदय का एक मात्र उपाय है। यही समाज के लिए अच्छी राह है।

व्यावहारिक जीवन

धम्मज्जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छइ॥

धर्म के द्वारा जिस व्यवहार का निर्माण हुआ और बुद्धिमान् पुरुषों ने जिस व्यवहार का ठीक ढंग से पालन किया वही हमारे लिए शुद्ध व्यवहार है। उस व्यवहार का अनुसरण करने वाला निन्दा का पात्र नहीं हो सकता।

माता की गोद में ही व्यवहार चालू हो जाता है और जीवन के अन्तिम क्षण तक चालू रहता है। माता अपने पुत्र को सर्वप्रथम वस्त्राभूषण पहनाती है फिर वह स्वयं उस परम्परा में बहता रहता है।

जीवन जरा-सा समझते ही वाणी-व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है। मन का व्यवहार तो उससे भी पहले शुरू हो चुकता है। इस प्रकार व्यवहार की तीन धाराओं में जीवन बहता रहता है।

जीवन-व्यवहार में मनुष्य का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। व्यवहार मनुष्य के विकास को परखने की प्रामाणिक कसौटी है। अतएव मनुष्य का व्यवहार ऐसा होना चाहिए जिससे उसके उज्ज्वल व्यक्तित्व का पता चले। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य प्रशस्त विचारों से प्रेरित हो और निरन्तर शुभ विचारों के चिन्तन-मनन में ही विहार करता रहे।

जो मनुष्य अपने मन में एक क्षण के लिए भी अशुभ विचारों का प्रवेश नहीं होने देता और कभी प्रमादवश अशुभ विचारों से स्पृष्ट हो जाए तो तत्काल उन्हें निकाल बाहर कर देता है उसका आन्तरिक व्यक्तित्व उत्तरोत्तर [illegible] होता है और उसके व्यवहार में अपूर्व सामञ्जस्य होता है।

व्यावहारिक जीवन के [illegible] अपने मान की रक्षा करने से [illegible] पैदा होते हैं। [illegible]

हो जाएगा। जीवन की वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों पाये हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन में सच्ची शान्ति आ सकती है।

जैन आगमों में निश्चय और व्यवहार का विस्तृत वर्णन है। इन दोनों नयों-दृष्टिकोणों को भलीभांति समझे बिना सभा मे आसीन होकर व्याख्यान करने का किसी को अधिकार नही। इन दोनों पहलुओं को समझ लेने पर ही आगे का जीवनपथ प्रशस्त बनता है।

जीवन मे समर्प अनिवार्य है मगर पारिवारिक विचारधारा एक ही दिशा मे चलती रहे यह वांछनीय है। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी खिचड़ी अलग पकाता रहे तो पारिवारिक शान्ति सुरक्षित नहीं रहती।

घर की बातें पड़ोसी को कहने से सुधार नही हो सकता आपस मे वैमनस्य अवश्य बढ सकता है। जैनधर्म रहस्य को प्रकाशित करने में दोष कहता है। इससे कभी-कभी तो घोर अनर्थ उत्पन्न होता है और मनुष्य आत्म घात तक कर बैठता है।

वस्तुतः जैन-जीवन का स्तर बहुत ऊंचा है। किसी की कोई गुप्त बात बिना सोचे-समझे प्रकट करने वाले का व्यवहार अच्छा नही समझा जा सकता। हित की भावना से जो भी कहना है वह समय स्थान एवं योग्यता देख कर ही कहना चाहिए। विवेक ही जीवन को मूल्य प्रदान करता है।

व्यवहार शुद्ध तो डर नही लोक का।
आहार शुद्ध तो डर नही रोग का॥

हमारा जीवन बेत की छड़ी जैसा लचीला होना चाहिए जो समय पर झुके तो मगर टूटे नहीं बहुतों का जीवन फूलों की छड़ी जैसा देखा जाता है जो हरा-भरा खिला होता है मगर आन्तरिक दुर्बलता के कारण कुछ ही समय म दुर्बलता के कारण मुरझा जाता है।

जो जीवन मिश्री की डली जैसा होता है वही उपयुक्त माना जाता है। उसमें मधुरता के साथ कठोरता भी होती है। मन की मधुरता वाणी द्वारा व्यक्त होती है और शरीर के द्वारा कार्यों के रूप म भी प्रकट होती है। ऐसा जीवन ही भीतर-बाहर समान होता है।

नयी बहू घर में आती है। वह सासू के पैर दबाती है। फिर इर्दगिर्द की स्त्री माताओं के पैर दबावे तो यह उसका व्यवहारधर्म है।

पिता-पुत्र गुरु-शिष्य सासू-बहू आदि में स्नेहपूर्ण व्यवहार हो यह गार्हस्थिक जीवन में स्पृहणीय है। इस व्यवहारधर्म के समुचित पालन पर ही आत्मधर्म की प्रगति निर्भर है। व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का आधार है। व्यवहार धर्म उच्च कोटि का होगा तो निश्चयधर्म की आराधना करने की प्रेरणा मिलेगी और उसका समुचित पालन करने में कठिनाई नहीं होगी। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यावहारिक जीवन को सर्व प्रकार से समृद्ध बनावे।

बसन्त ऋतु में मञ्जरियों से लदे आम्रवृक्ष की तरह मानव का सद्व्यवहारमय जीवन विश्ववाटिका के प्रांगण में शोभायमान होता है।

वाणीव्यवहार

बोलने से पहले प्रत्येक बात पर विवेकपूर्वक विचार कर लिया जाय कि मेरे भाषण में असत्य भय या क्रोध तो नहीं है?

—पूज्य जवाहरलालजी म०

शास्त्र में सत्य को भगवान् का रूपक प्रदान किया गया है। वास्तव में सत्य हमारे अन्तर्जीवन का देवता है। अतएव भाषण करते समय सर्वप्रथम सत्य का विचार कर लेना आवश्यक है।

मानव मानव के साथ ही वार्तालाप होता है शुकादि पक्षियों या पशुओं के साथ नहीं। व्यक्त वाणी द्वारा अपने मनोभावों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य केवल मनुष्य मे है। यह मानव का असाधारण ऐश्वर्य है।

भले ही हम समझ जाए कि अमुक व्यक्ति का चरित्र ठीक नहीं है फिर भी उसके प्रति हमारा वाणीव्यवहार प्रियतापूर्ण होना चाहिए—

सत्य च नाप्रियं च यात्
मा च नास्त्यसत्यमप्रियम्।

सत्य बोलो मीठा बोलो। यदि कोई बात पूर्ण सत्य है मगर सुनने वाला उग्रस्वभावी है क्रोधी है या दूसरों के समक्ष उसकी प्रतिष्ठा में धब्बा लगने वाला है तो मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

अपनी स्वयं की भूलों की अपेक्षा दूसरों की भूलें एवं त्रुटियाँ अधिक और शीघ्र ध्यान में आती हैं। उन्हें सुधारने के हेतु कुछ कहना चाहते हैं। फिर मौका पाकर उपदेश झाड़ने बैठते हैं। उस समय विवेक की परीक्षा होती है।

अपने आपको बड़ा समझ कर किसी अपरिचित का 'तू' 'तेरा' आदि कहना उचित नहीं। छोटों को उनकी योग्यता के अनुसार सम्मानपूर्वक बुलाना चाहिए, किसी का तौहीन करना अपनी ही तौहीन करना है। अपने पर-परिवार में सदा सभ्य और मधुर भाषा बोलना बुद्धिमत्ता और कुलीनता का चिह्न है।

सभा में किसी समाज या व्यक्ति पर आक्षेप करना भारी भूल समझी जाएगी। जो व्याख्याता या उपदेशक स्वमत परमत निश्चय एवं व्यवहार को जान कर बोलता है वही सफलता प्राप्त करता है।

किसी के साथ वार्तालाप करना है तो पहले उसके विचारों को समझने के हेतु मनोविज्ञान प्रबल होना चाहिए।

जो व्यापार करता है जैसे—
बातों की बनावट
दुकान की सजावट
माल की छटावट
भाव की सचावट
पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

सुन्दर कवि की सीख याद रखने योग्य है—
बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय
न तु मुख मौन गही चुप होय रहिए।

परिवार में समाज में पंचायत में स्नेहीवर्ग में अवसर वचन की कोमलता ही महत्वपूर्ण होती है। जीवन के क्षणों को मधुर बनाना है तो मौन बोलो सत्य बोलो समय देख कर बोलो।

अपने जीवन को लोकप्रिय बनाना प्रत्येक व्यक्ति का मूल लक्ष्य है। इसीलिए वाणीव्यवहार को सुन्दर और मधुर बनाने का लक्ष्य सदा रखना चाहिए।

वैराग्य

विचारों की ऊंची उड़ान मात्र से नहीं सन्तोषी आचरण से जीवन में स्थिरता प्राप्त होगी। गिद्ध पक्षी ऊँचे आकाश में सुदूर उड़ान भरता है मगर कुछ पाता नहीं। अन्ततोगत्वा कुछ मिला भी तो एक मांस की बोटी। यह है श्रम का दुरुपयोग।

एक होता है मानससरोवर का पक्षी जो सन्तोष के क्षणों में बैठ मोती चुगता है।

सन्तजीवन की यह विस्मयजनक विशेषता है कि वह विश्व के वैभव से विमुख होकर और भी अधिक सुख का अनुभव करता है। इसका मूल कारण त्यागमय वैराग्य है। श्रीमद् राजचन्द्र की भाषा में आत्मज्ञानविहीन त्याग-वैराग्य भी थोथा है—

त्याग विराग न चित्तमां थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमां तो भूले निज भान॥

—आत्मसिद्धि।

जन्म मरण संसार का मूल चक्र है। संसार भर में इसकी चर्चा है। प्राणी मात्र इस चक्र पर चढ़ कर घूम रहा है। ज्ञानी जन इसका स्वरूप समझते हैं। यह चक्र किस प्रकार चल रहा है इस तथ्य को आचार्य-वर्य कुन्दकुन्द ने बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं—

जो खलु संसारत्थो
जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म
कम्मादो होदि गदि सुगदी॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो
देहादो इंदियाणि जायंते।

अन्याय आत्मा और पाप आत्मा अपने आपके लिए शत्रु है। इसका दमन करना आवश्यक है। यही समझ कर उस तरुण नरवीर जम्बू ने यौवन की मनोहारी मादकता पर वैराग्य का रंग चढ़ा दिया।

अजब वैरागी जम्बू हुआ रे।

उसने विशाल वैभव से विमुख होकर साधना के कटकाकीर्ण क्षेत्र में प्रवेश कर मानव मात्र के समक्ष एक स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया।

सच है जहाँ निग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा रुचि और प्रतीति है एवं मोह माया के प्रति अरुचि है वहाँ नित्य निवृत्ति मार्ग बना रहता है।

साधना मार्ग कायरों के लिए नहीं शूरों के लिए है। शास्त्र में कहा है —

पणया वीरा महावीहिं।

वीर पुरुष उस महा मार्ग-निर्वाणपथ पर चले हैं और वीर ही उस पर चल सकते हैं। इन्द्रियों के गुलाम प्रलोभनों के आगे नतमस्तक हो जाने वाले और थोड़ा-सा संकट उपस्थित होते ही हार जाने वालों के लिए यह महा मार्ग नहीं है। वीर पुरुष सिंह की भाँति इस समर भूमि में प्रवेश करते हैं सिंह को भाँति आगे बढ़ते हैं और सिंह की भाँति ही अपने ध्येय की पूर्ति करते हैं।

योगसाधना ही जीवन का सार है। जीवन की सबसे बड़ी सफलता अमरता की ओर बढ़ते जाने में है। मन वचन और काय यह त्रियोग हमारी मूल पूंजी है। इनका सदुपयोग करना सम्यग्वृत्ति है और दुरुपयोग करना संसार है। पंचसंग्रह में योग के पर्यायवाचक शब्द बतलाते हुए कहा है —

जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया॥

योग वीर्य स्थाम उत्साह पराक्रम चेष्टा शक्ति, सामर्थ्य यह सब योग के पर्यायवाचक शब्द हैं।

योग प्राप्त होने पर जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। चित्त की वृत्तियाँ बदल जाती हैं। जीवन एक नूतन पथ पर मुड़ जाता है। दुनिया नवीन ही रूप में दृष्टिगोचर होने लगती है भोग रोग प्रतीत होने लगते हैं विषय विष जान पड़ते हैं धन नाग के समान मालूम होने लगता है। बाह्य वस्तुओं में जो सुख प्रतीत होता था वह आत्मा में प्रतीत होने लगता है।

मगर आत्मा का कल्याण सच्चे वैराग्य में है। अगर अन्तर में वैराग्य न हुआ और वैरागी का बाना पहन लिया तो वह बड़ी से बड़ी वंचना है —

धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय ।
वैराग्यरंगो जनवञ्चनाय ॥

जनता के मनोरंजन के लिए अथवा ठगाई करने के लिए ऊपर से वैराग्य का जो रंग चढ़ा लिया जाता है उससे आत्मा का घोर पतन होता है। अतएव वैराग्य अन्तःकरण में उद्भूत होना चाहिए और स्थायी होना चाहिए। इससे इसी लोक में अपूर्व अनाकुलता उत्पन्न होती है और परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है।

भोग विलासों में सैर सपाटों में आतिशबाजी में एवं गुलछर्रे उड़ाने में विरतिभाव उत्पन्न हो जाना ही वैराग्य है। वैराग्य निधूम अगमगाती जीवन-ज्योति है।

तमेव सच्चं णीसंकं

वही सत्य है, वही निश्शंक है जो वीतराग महापुरुषों ने निरूपित किया है। यह शास्त्र का मुद्रालेख है।

इस कथन में कितना मर्म छिपा है, कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ न किसी पक्षपात को स्थान है और न किसी प्रकार की सकीर्णता को। जिस किसी महापुरुष ने अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली वह वीतराग कहलाता है। वीतरागता प्राप्त होने पर किसी प्रकार का विभ्रम नहीं रहता स्वार्थ मिथ्या नहीं रहती वचना की वृत्ति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जो वचन कहा जाएगा वह भ्रमपूर्ण या असत्य नहीं हो सकता। इसी कारण शास्त्र हमारा पथ प्रदर्शन करने के लिए कहता है—तुम किसी नाम पर मत रीझो किसी पंथ या सम्प्रदाय की ओर मत निहारो जाति-पाति की दृष्टि से मत सोचो। केवल यही देखो कि जो विधान किया गया है वह जिन-वीतराग ने किया है अथवा किसी रागी द्वेषी ने? अगर वह विधान किसी रागी द्वेषी पुरुष का है तो उसे अंगीकार करना खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि रागी-द्वेषी अज्ञानी और स्वार्थी होता है। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित कर सकता है।

मगर वीतराग के वचन न अज्ञानपूर्ण हो सकते हैं और न स्वार्थमय। अतएव उसके वचनों पर अविश्वास करने का कोई कारण ही नहीं है।

सत्य का स्वरूप अतीव गूढ़ और विराट् है। उस पकड़ना सब के लिए सरल नहीं है। वह प्रत्येक की पकड़ में नहीं आ सकता। मगर उल्लिखित वाक्य में हमें एक ऐसी अभ्रान्त कसौटी प्रदान कर दी गई है जिस पर कस कर हम सत्य को हृदयंगम कर सकते हैं और धोखे से बच सकते हैं।

इस विराट् विश्व के प्रत्येक पदार्थ को यथार्थ मतिपूर्वक समझ कर उसे यथोचित शब्दों में प्रकट करना सत्य है। वह सत्य आप्त पुरुष के वचन में अवश्य निहित रहता है। आप्त का निर्णय त्रिकालस्थिर होता है। वह अस्पर्शों द्वारा

बदला नहीं जा सकता। उस पर धूल नहीं बिखेरी जा सकती। सत्य का स्वरूप परिवर्तनशील नहीं स्थायी है त्रिकाल में अबाधित है।

सत्य की आराधना के लिए हृदय को सबल बनाने की आवश्यकता है। उपाध्याय कवि श्री अमरचन्दजी म० के शब्दों में—

'सत्य के लिए मन में कड़क होनी चाहिए। जब तक मन मजबूत नहीं है और असत्य से टक्कर लेने को तैयार नहीं है व्यक्तिगत जीवन की परिवार की और समाज की बुराइयों के साथ संघर्ष करने को तैयार नहीं है तब तक उसका सत्य सत्य नहीं है। सत्य का असत्य के साथ समझौता नहीं किया जा सकता। सत्य समय को परख सकता है और परिस्थिति का खयाल कर सकता है। संभव है थोड़ी देर इन्तजार कर ले। प्रयत्नों को कुछ देर के लिए ढीला छोड़ दे किन्तु हमेशा के लिए, हथियार नहीं डालता है और डालने वाला सत्य नहीं रहता है।

भगवान् महावीर का सत्य किस प्रकार का और क्या है? इस विषय में हमें एक तरह सोचना होगा। अहिंसावाद आत्मवाद अनेकान्तवाद कर्मवाद एवं अपरिग्रहवाद ये भगवान् महावीर के उपदेश के मूल विषय हैं। अन्य मतावलम्बियों ने भी इन्हीं विषयों पर बहुत कुछ कहा है। मगर सर्वज्ञ के और अल्पज्ञ के कथन में बहुत अन्तर होता है और वह अन्तर इन विषयों में भी स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए अहिंसावाद को लीजिए। जैनेतर मत अहिंसा का पक्ष और हिंसा को अधर्म मानते हुए भी धर्म के नाम पर की जाने वाली घोर हिंसा को भी धर्म मान लेते हैं। कहते हैं—

(क) यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्या प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
(ख) यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा।
(ग) यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः।

ब्राह्मणों को श्वेत पशु और स्त्री का यज्ञ के लिए वध करना चाहिए। स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए पशुओं को बनाया है।

यज्ञ के ऐश्वर्य के लिए ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि की है इस कारण यज्ञ के लिए किया गया वध वध नहीं है। और भी कहा है—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ।

—मनुस्मृति ५-२२ ३९ ४४

वेद में विधान की हुई हिंसा को अहिंसा ही समझना चाहिए, क्योंकि धर्म का निर्णय वेद से ही होता है।

इस प्रकार के असत्य के साथ सत्य का समझौता किस प्रकार हो सकता है? हिंसा को अहिंसा कहना विष को अमृत कहना है। अमृत मान कर विष भक्षण करने वाले को भी मरना पड़ता है।

कुछ नमूने और लीजिए—
(क) दुःशीलोऽपि द्विज पूज्यो
न शूद्रो विजितेन्द्रिय ।
(ख) स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनय ।

कोई द्विज (ब्राह्मण) अगर दुराचारी है तो भी वह पूजनीय है और शूद्र (हरिजन चमार आदि) जितेन्द्रिय होने पर भी पूजनीय नहीं है।

स्त्री वैश्य और शूद्र पापी है।

पक्षपात का यह कैसा नगा नाच है! सदाचार की कोई कीमत नहीं जाति की कीमत है। जाति के कारण दुराचार भी सदाचार पर हावी हो गया है!

भगवान् महावीर ने इस प्रकार के असत्य का दृढ़ता के साथ विरोध किया और उसकी जड़ें उखाड़ फेंकी। एक सफल लेखक के शब्दों मे—

'उस महान् महात्मा ने अपने दिव्य सन्देश द्वारा अवरुद्ध मानसिक जड़ता को झकझोर कर विशुद्ध मानवता का पाठ पढ़ाया। धार्मिक सिद्धान्तों मे लगे जंग को हटा कर उनमें नवजीवन का सचार किया। निडरतापूर्वक पुरोहितों के काले कारनामों की पोल खोली। अहिंसा सत्य और समानता की मूल भित्ति पर जीवन के महत्त्व को खड़ा करने के लिए अपना जीवित आदेश-संदेश दिया। तत्कालीन समाज के जातिभेद-सर्प को 'मानव मानव एक' के साम्यमूलक मंत्र से नष्ट करने की क्रिया बतलाई। मानवसमाज को पतनोन्मुख करने वाले पुरोहितों का भण्डाफोड़ किया। समाज की छाती पर मौज से क्रीड़ा करने वाले धर्म के ठेकेदारों के नारकीय जीवन की जिसने भरसक भर्त्सना—ऐसा था

जिसके अन्तःकरण में पक्षपात नहीं है राग द्वेष की मलीनता नहीं है जो सत्य ही सर्वोपरि मानता है वही सत्य को प्राप्त कर सकता है। वही सच्चा ज्ञानी है और उसी को ज्ञान का सार प्राप्त होता है।

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावंत वियाणिया॥

—सूत्रकृतांगसूत्र

प्राणी मात्र की रक्षा करना और समभाव की साधना करना यही ज्ञान का सार है। यही सत्य है यही कल्याणकारी है। इसी से इहलोक-परलोक सुधर सकता है।

अहिंसा और सत्य जिसके मूल में है वही वचन सत्य वचन है। ऐसा वचन ही निःसंशय मान्य है। सर्वज्ञ वीतराग के वचनों को प्रमाण मान कर जो आत्महित के मार्ग पर चलते हैं उन्हीं को लोकोत्तर आत्मिक वैभव प्राप्त होता है।

मांसाहार-परिहार

जैन धर्म और वैदिक धर्म में मांसाहार का विरोध किया गया है। उन धर्म के अनुसार मांस खाने वाला और अन्त तक भी उसका परित्याग न करने वाला व्यक्ति अवश्यमेव नरक में जाकर घोरतम यातनाओं का भाजन बनता है।

मांसाहार सात कुव्यसनों में से एक है जिनसे जीवन अधमता की ओर अग्रसर होता है। प्रत्येक सद्गृहस्थ को कुव्यसनों के त्याग की प्रेरणा की गई है—

जुआ खेलना मांस मद वेश्यागमन शिकार।
चोरी पर रमणी रमण सातों व्यसन निवार॥

प्रकृति के नियम के अनुसार मानव निरामिषभोजी है। मांसभक्षक प्राणियों की शरीररचना से मनुष्य की शरीररचना भिन्न प्रकार की है। मांसभक्षक प्राणी के नाखून और दांत पैने होते हैं। उनका पानी पीने का ढंग भी अलग प्रकार का होता है।

भेड़ बकरी मृग खरगोश आदि जो प्राणी निरामिषभोजी हैं वे भूख से पीड़ित होकर भले ही मर जाएं मगर मांस भक्षण नहीं करते। किन्तु मनुष्य समझदार विवेकवान् बुद्धिशाली होकर भी इतना पतित बन जाता है कि मांस खाने से भी परहेज नहीं करता।

संसार के सब प्राणी भाई भाई हैं। मनुष्य सबसे बड़ा भाई है क्योंकि उसका सामर्थ्य विकसित है। वह अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक समझदार है। बड़े भाई का कर्त्तव्य अपने छोटे असमर्थ भाइयों की सहायता करना है, उन्हें आपत्तियों से बचाना है। इतना न कर सके तो कम से कम इतना तो करे कि उनका बाधक न बन जाए। उनका रक्षण न कर सके तो कम से कम भक्षण तो न करे। मगर मनुष्य अपनी शक्ति और बुद्धि के मद में ऐसा बावला बन जाता है कि किसी न किसी बहाने से ही उनकी जिन्दगी लूट लेता है और खा जाता है। मानव धर्म के लिए यह बड़े से बड़ा कलंक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने ठीक ही कहा है—'वन में निवास करने वाले किसी का कुछ अपराध न करने वाले हवा पानी और घास खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मृगों को घात करने वाला मांसार्थी पुरुष कुत्ते से किस बात में बड़ा है ? उसमे और कुत्ते मे कोई अन्तर नही।

दूब की नोक से भी अपना अंग विदारण करने पर जिसे पीड़ा का अनुभव होता है अरे ! वही मनुष्य तीखे शस्त्रों से निरपराध प्राणियों का वध कैसे करता है !

'तुम मर जाओ' ऐसा कहने पर भी मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति म भयानक शस्त्रों से हत्या करने पर उस बेचारे प्राणी की हालत कैसी होती होगी !

मासाहारी दया से विहीन होता है। उसका दिल पत्थर से भी अधिक कठोर होता है। उसके दिमाग मे अविवेक का वास होता है। मासाहारी मे बल कम मगर आवेश बहुत होता है। आवेश के वश होकर वह भाई जैसे आत्मीय जनों की घात कर बैठता है।

इन बुराइयों से बचने के लिए और साथ ही हिंसा के घोर पाप मे छुटकारा पाने के लिए मास भक्षण का त्याग करना अत्यावश्यक है। मासाहारी के विषय म कहा गया है—

जीव मारे हत्या करे, खाता करे बखान।
तुलसी उनको कौन गति जिनके पेट मसान ॥

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपने उदर को ही श्मशान बना डालता है। अन्न मनुष्य का प्राकृतिक भोजन है। उससे जीवन निर्वाह हो सकता है। दीर्घ जीवन भी प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी लोग मात्र जिह्वा-लोलुपता के कारण पंचेन्द्रिय प्राणियो के गले पर छुरी चलाते हैं और अपनी मानवता को कलंकित करते हैं। ऐसे मानव वास्तव में मानव नहीं दानव हैं पिशाच हैं शैतान हैं। उनका हृदय मरा हुआ होता है। उनमें कोमल सात्त्विक भावनाएं पनप नहीं पातीं।

आखो देखी बात है कि जीवहत्या करने वाले कभी सुखी सम्पन्न नहीं होते। उनके दिन दुःख मे ही कटते हैं। वे दरिद्रता म पीड़ित रहते हैं और झोंपड़ियों में ही अपनी जिन्दगी बिताते हैं। परभव में घोर से घोर दुःखों के पात्र बनते हैं।

करते हैं प्रतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार अपने जीवन को उच्च और पवित्र बना लेने के कारण वे ऊँचे माने जाने लगे हैं। ओसवाल आदि उच्चजातीय लोग भी अब उनके साथ भोजन व्यवहार करते हैं। उनमें से एक भाई ने और तीन बहिनों ने दीक्षा अंगीकार की है। श्री समीर मुनिजी के साथ रहकर छह महीने तक मैंने भी खटीकों में प्रचार किया है।

तात्पर्य यह है कि मांसभक्षण जैसे घोर पाप का सेवन करने वाला भी अगर अपनी भूल समझकर उसे त्याग दे और शुद्ध आचार का पालन करने लगे तो वह 'उच्च' बन जाता है और मांस की आजीविका करने वाला यदि उच्च जाति का हो तो भी वह नीच, हीन और अधम बन जाता है।

जो मांस भक्षण नहीं करते उनका दिल साफ रहता है। उनके घर में दया का वास होता है। वह प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव स्थापित कर सकता है। झूठ चोरी व्यभिचार आदि पापों से बचना उसके लिए कठिन नहीं होता। उस पर सभी देवता प्रसन्न रहते हैं।

मांसाहार सभी दृष्टियों से वर्जनीय है। इस लोक और परलोक सम्बन्धी बुराइयों और पापों से बचने के लिए मांसाहार का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। जो विवेकीजन इस पाप से बचे हुए हैं, वे भाग्यवान् हैं और जो बचेंगे वे अवश्य भाग्यशाली बनेंगे।

रात्रिभोजन

अस्तंगते दिवानाथे
आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं
मार्कण्डेयमहर्षिणा ॥

मार्कण्डेय महर्षि ने कितने उग्र शब्दों में रात्रिभोजन का विरोध किया है? सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन करना मांसभक्षण के समान है और पानी पीना रक्तपान करने के समान है।

रात्रि में कितना ही तेज प्रकाश क्यों न किया जाय वह दिन के प्रकाश के समान नहीं हो सकता। बल्कि प्रकाश की अधिकता के कारण रात्रि में छोटे छोटे जीव जन्तु और अधिक आकर्षित होते हैं। उड़ते हुए वे जीव भोजन में गिरते हैं और खाने में आ जाते हैं। अगर प्रकाश न किया जाय और अंधेरे में ही खाया जाय तब तो और भी अधिक अनर्थ होने की संभावना रहती है। इस तरह दोनों अवस्थाओं में रात्रिभोजन अनुपयुक्त है।

योगशास्त्र में कहा है—

मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्तिं कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥
विलग्नश्च गले बालः स्वरभङ्गाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशिभोजने ॥

भोजन के साथ चिउंटी खाने में आ जाय तो उससे बुद्धि का नाश हो जाता है। जूं से जलोदर रोग की उत्पत्ति होती है। मक्खी खा जाने से वमन होता है और छिपकली से कोढ़ रोग उत्पन्न होता है।

कांटे और लकड़ी के टुकड़े से गले में पीड़ा उत्पन्न होती है। शाक आदि व्यंजनों के बिच्छू गिर जाय तो वह तालु को बेध देता है। गले में बाल फस जाय

तो स्वरभंग हो जाता है। रात्रिभोजन करने से इस प्रकार के अनेक अनर्थ होते हैं।

सचमुच रात्रि का भोजन अंधा भोजन है। रात्रि भोजन से ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की ऐसी हानियाँ होती हैं जिनका वर्णन करना भी शक्य नहीं है।

अन्धा भोजन रात का करे अधर्मी जीव।
थोड़ा जीवन कारणे दे नरकों में नीव॥

रात्रि भोजन की सभी विचक्षण पुरुषों ने निन्दा की है। क्या जैन और क्या जैनेतर दोनों ही प्रकार के धर्माचार्य रात्रि के भोजन को हानिकारक कहते हैं। यही नहीं आयुर्वेद में भी उसका निषेध किया गया है। आयुर्वेद की मान्यता के अनुसार शरीर में दो कमल होते हैं—हृदय-कमल और नाभि-कमल। सूर्य के अस्त हो जाने पर दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं। इस कारण रात्रि में भोजन करना हानिकर है।

जो मनुष्य दिन में और रात्रि में खाता रहता है उसमें और पशु में क्या अन्तर है? वह सींग और पूंछ से रहित एक प्रकार का जानवर ही है। परलोक में भी रात्रिभोजी मनुष्य—काक, गिद्ध, उल्लू, सूकर, सर्प, गोह और विच्छू आदि अधम जानवरों की योनि में जन्म लेना पड़ता है।

हमारे उदर की बनावट ऐसी नहीं है कि दिन में पर्याप्त भोजन कर लेने के पश्चात् भी रात्रि में भोजन करने की आवश्यकता पड़े। बल्कि रात्रि में खाकर शीघ्र सो जाने से उदर में भारीपन रहता है और इस कारण गहरी निद्रा नहीं आती। गहरी निद्रा न आने से अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक हानियाँ और व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

दिन और रात्रि में खाते रहने से जठराग्नि पर अनुचित बोझ पड़ता है और जब शक्ति से अधिक बोझ पड़ता है तो वह पाचन-क्रिया में असमर्थ हो जाता है। पाचनशक्ति क्षीण होने पर मनुष्य की क्या स्थिति होती है यह बात समझाने की आवश्यकता नहीं। शरीर दुर्बल शक्तिहीन और रोगों का घर बन जाता है। जिन्दगी की अंतिम घड़ी सन्निकट आ जाती है।

इस प्रकार रात्रिभोजन किसी भी दृष्टि से लाभदायक नहीं किन्तु प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक ही सिद्ध होता है। ऊपर योगशास्त्र के उद्धरण से रात्रिभोजन के कतिपय अनर्थों का उल्लेख किया गया है। उनकी पुष्टि करने वाला उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्रजी महाराज का कथन यहाँ उद्धृत किया जाता है। कविजी ने लिखा है—

जैन संस्कृति

अच्छी रीति-नीति को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति शब्द का भाव बहुत व्यापक है। उसमें ऐसे समस्त धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय और वैयक्तिक कर्तव्यों का समावेश होता है जो शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित हैं और जिनसे व्यक्ति और समाज का हित होता है।

संस्कृति एक प्रकार का मंजन है जिसके द्वारा समाज या व्यक्ति अपने दोषों को दूर करके निर्दोष बनता है।

सच पूछिए तो कौन व्यक्ति कितनी उच्चकोटि का है अथवा निम्न श्रेणी का है इस प्रश्न का उत्तर उसकी संस्कृति के उच्च या नीच स्तर पर ही अव लम्बित है। यही कसौटी किसी भी समाज के लिए भी लागू होती है।

भारतवर्ष एक विशाल देश है और इस कारण उसमें नाना प्रकार की संस्कृतियों का अस्तित्व पाया जाता है। देश की भौगोलिक विशालता के साथ-साथ यहां विविध धर्मपन्थ हैं नाना प्रकार की जातियां हैं। अतएव इन कारणों से भी भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृतियां प्रचलित हैं। खान पानों की भाषा पर्व त्यौहार, उनसे संबंध रखने वाले विविध प्रकार के विधि-विधान तपोत्सव दीक्षा सम्बन्धी रीति-रिवाज विवाह जन्मोत्सव मृत्युकालीन नियम आदि-आदि मिल कर संस्कृति का रूप धारण करते हैं।

हमें यहां जैन-संस्कृति के विषय में ही मुख्य रूप से विचार करना है। जैन-धर्म का तीर्थंकरों द्वारा उपदेश दिया गया। उसका प्रचार और प्रसार भारत-वर्ष में हुआ है। जैन समाज भारतवर्ष में ही विद्यमान है। अतएव भारतवर्ष की संस्कृति की जो सामान्य धारा है उसका प्रभाव जैन समाज पर होना स्वाभा विक ही है। तथापि उसकी अपनी बहुत विशेषताएं भी हैं। जैनाचार्यों का यह आदेश है कि जिस लौकिक नियम विधान या रीति-रिवाज से सम्यक्त्व में बाधा न पड़ती हो और व्रतों में दाग न लगता हो उसका अनुसरण या पालन करने में दोनों का कोई हानि नहीं है। यथा—

यत्र सम्यक्त्वहानिर्नो यत्र नो व्रतदूषणम् ।
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ॥

जैनों के लिए वह सब लौकिक विधियां जो जीवन में भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर आचरण में लाई जाती हैं, प्रमाणभूत ही हैं किन्तु उनका अमल करने से पहले इस बात की जांच अवश्य कर लेनी चाहिए कि इनसे हमारे सम्यक्त्व और चारित्रधर्म में कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होती ? जो विधि-विधान सम्यक्त्व को दूषित करने वाला हो और जिसके कारण अंगीकृत व्रत का भंग होता हो उसका आचरण करना उचित नहीं है। किन्तु जिसके आचरण से ऐसी कोई बात न हो उसको मान्य कर लेने में कोई हानि नहीं है।

विचार करने से प्रतीत होता है कि जैन समाज अपने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर विभिन्न देश-काल सम्बन्धी लोकाचारों को अपनाता रहा है और आज भी अपनी इसी नीति पर चल रहा है। यद्यपि जैन सिद्धांतों के अज्ञान आदि कारणों से इस नियम का भंग भी हुआ है और अनेक प्रान्तों में या परिवारों में कुछ ऐसे लोकाचार भी दाखिल हो गए हैं जो सम्यक्त्व और चारित्र के विघातक हैं तथापि उन्हें जैन संस्कृति के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। जब अनेक प्रकार के धर्मों का पालन करने वाली प्रजा एक साथ निवास करती है, तो स्वभावतः एक का दूसरे पर थोड़ा या बहुत प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस नियम के अनुसार जैनेतर रीति-रिवाजों का जिस प्रकार जैनों पर प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार जैन आचार का दूसरों पर भी प्रभाव पड़ा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं किन्तु उनकी यहां आवश्यकता नहीं है।

जब एक संस्कृति के लोग दूसरी विभिन्न संस्कृति वालों के सम्पर्क में आते हैं तब दो संस्कृतियों का सम्पर्क एवं समन्वय होता है। उससे सम्मिश्रण से दोनों में कुछ परिवर्तन होते हैं और प्राचीन संस्कृतियां को नूतन स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार संस्कृति का प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रहता है किन्तु उसे देश-काल के अनुरूप नवीन-नवीन स्वरूप प्राप्त होता रहता है।

भारत की पुरातन और अर्वाचीन संस्कृति में भारी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन [illegible] को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय की [illegible] [illegible] की [illegible] निराली था [illegible] और [illegible] के अतिरिक्त [illegible] [illegible] [illegible] और ही प्रकार के थे। इतिहास [illegible] [illegible] [illegible] है कि प्राचीन काल में यहां पर तब रीति-रिवाज

सदा एक-से नहीं रहे हैं। विवाह-प्रथा को लिया जाय तो अतीत के अनेक रूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं। भगवान् ऋषभदेव से पूर्व सहोदर नर-नारी—जो युगल कहलाते थे पति-पत्नी होते थे। भगवान् के समय तक यह रिवाज चालू रहा। कहते हैं—श्री ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने अपनी बहिन सुन्दरी के साथ विवाह करना चाहा था किंतु सुन्दरी ने इसका विरोध किया और वह साध्वी बन गई। उसी समय से इस प्रथा का अंत आया।

उसके बाद अनुलोमविवाह प्रतिलोमविवाह सवर्णविवाह आदि के अनेक युग आए और गए। आज छोटी-छोटी उपजातियों में ही विवाह-संबंध होते हैं। किंतु अब एक जबर्दस्त क्रांति का सूत्रपात हो रहा है और ऐसा जान पड़ता है कि अब तक के वैवाहिक बंधन सब टूटने को तैयार हैं।

तात्पर्य यह है कि समय-समय पर संस्कृति के विभिन्न रूपों में परिवर्तन होता रहा है और आज भी हो रहा है। और तथ्य यह है कि इस परिवर्तन शीलता में ही संस्कृति की सजीवता निहित है। परिवर्तन के बिना कोई वस्तु कायम नहीं रहती और संस्कृति भी इस नियम का अपवाद नहीं है।

संस्कृति में परिवर्तन होते रहना तो अनिवार्य ही है किन्तु वह परिवर्तन हितकर और सुखकर होना चाहिए। उससे व्यक्ति के उत्थान का मार्ग प्रशस्त होना चाहिए और साथ ही समाज एवं देश का भी कल्याण होना चाहिए। यही संस्कृति का उद्देश्य है। जिस विधि-विधान से या आचारसमूह से मानवता और मानव जाति का कल्याण न हो उसे 'संस्कृति' का गौरव ही नहीं प्रदान किया जा सकता। संस्कृति तो वह निसार है जिसके प्रयोग से समाज और व्यक्ति के जीवन में उज्ज्वलता आती है।

जैसा कि कहा जा चुका है संस्कृति की सतत प्रवहमान धारा में कुछ ऐसे मूलभूत तत्त्व भी होते हैं जो देश काल और परिस्थिति से भी ऊपर होते हैं। उन्हें जीवन का शाश्वतिक आदर्श कहा जा सकता है। वे मूल तत्त्व सदैव विद्यमान रहते हैं और उन्हीं के आधार पर नाना प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

जैन संस्कृति के वे मूलभूत तत्त्व कौन से हैं? लौकिक कृत्यों के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। धर्म-संस्कृति के विषय में अति संक्षेप में कहूं तो आचार के क्षेत्र में अहिंसा और विचार के क्षेत्र में अनेकान्तवाद ही ऐसे तत्त्व हैं जिनके आधार पर समग्र जैन संस्कृति का सुरम्य और विशाल भवन खड़ा हुआ है। जैनों के समग्र धार्मिक आचार में अहिंसा ओत-प्रोत है और समग्र दार्शनिक विचारों पर अनेकान्त की परछाई दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विस्तार में चलें तो कहा जा सकता है कि हमारी धर्म-संस्कृति के दो चक्र हैं—निश्चय और व्यवहार। इन्हीं दो के सहारे संस्कृति की गाड़ी चलती है। इस संस्कृति का लक्ष्यबिंदु है विभावदशा को छोड़ कर स्वभाव-दशा की ओर उन्मुख होना और अन्त में शुद्ध आत्मस्वरूप को उपलब्ध करना।

कुछ लोगों का कहना है कि जैनसंस्कृति निवृत्ति का ही विधान करती है परन्तु जिन्होंने गहराई में उतर कर जैन साहित्य का आलोडन किया है वे इस मन्तव्य से सहमत नहीं हो सकते। जैन धर्म एक व्यावहारिक धर्म है। वह कोरा आदर्शवाद नहीं है। अनादि अतीत से जीवनशुद्धि के अर्थ उसका आचरण किया जा रहा है और आज भी लाखों उसके अनुयायी हैं। क्या एकान्त निवृत्तिमय कोई धर्म व्यवहार में लाया जा सकता है? जिस धर्म में निषेध ही निषेध हो और विधेय कुछ भी न हो उस धर्म से जीवनशुद्धि सम्भव नहीं है। मगर जीवनशुद्धि के लिहाज से तो जैन धर्म ही सबसे उपयुक्त धर्म है।

सत्य यह है कि सदाचार के दो रूप होते हैं—निवृत्ति और प्रवृत्ति। अकुशल कर्म से निवृत्त होने में और कुशल अनुष्ठान में प्रवृत्त होने में ही सदाचार की समग्रता है। इन दोनों बाजुओं के बिना सदाचार का रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। अतएव जैनसंस्कृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति का इस सुन्दर रूप से समन्वय किया गया है कि उनमें कोई पारस्परिक विरोध नहीं रहता। यही नहीं, वरन् दोनों जीवन के एक ही परम लक्ष्य के सहायक बन जाते हैं। यह हमारी अपनी कल्पना नहीं है बल्कि आगम कहते हैं—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात् अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति करना ही सम्यक्चारित्र है।

इस प्रकार जैन संस्कृति प्रवृत्ति-निवृत्ति का सामञ्जस्य स्थापित करती हुई चली। यह हिंसा असत्य आदि पापकर्मों से निवृत्त होने पर बल देती है तो दया दान सेवा सदाचार सत्य स्वाध्याय ध्यान एवं अनेकान्तमय दृष्टिकोण आदि के पालन का भी विधान करती है।

जैनसंस्कृति में ज्ञान और चारित्र दोनों को समान रूप से महत्त्व दिया गया है और स्पष्ट कहा गया है कि इन दोनों के समन्वय से ही जीव की मुक्ति है। ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है और क्रिया के अभाव में ज्ञान पंगु है।

जैन संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है—गुणपूजा। यह व्यक्ति की [illegible] जाति या कुल (वंश) की ऊँचता और नीचता को महत्त्व नहीं मानती। [illegible] एवं सदाचार को आदर देती है जिससे [illegible] गुणपूजा का महत्त्व व्यक्तिपूजा

पर टिके हैं मगर जैनसंस्कृति ने प्रत्यन्त दृढ़तापूर्ण स्वर में उसका विरोध किया है। वह विरोध करती आ रही है और विरोध करने में सफलता भी प्राप्त करती रही है। इस युग में तो उसे अपने इस मिशन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में जातिगत उच्चता नीचता स्वीकार करना गुणों का तिरस्कार करना है। जब एक व्यक्ति अज्ञान और अनाचारी होता हुआ भी अमुक जाति में उत्पन्न होने के कारण ही पूज्य माना जाय और दूसरा ज्ञानवान् तथा सदाचारनिष्ठ होने पर भी निम्न कहलाने वाली जाति में जन्म लेने के कारण ही तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाय तो यह सद्गुणों का अपमान नहीं तो क्या है? जब सद्गुणों का अपमान होता है तो लोग गुणों के प्रति उपेक्षाभाव धारण करते हैं और उन्हें प्राप्त करने तथा बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करते। परिणाम यह होता है कि जीवन निर्गुण बनता जाता है। जैन-संस्कृति को यह पसन्द नहीं। उसका उद्घोष है कि मानव मानव के बीच कोई जातिभेद नहीं है। मानवजाति एक है। सबको समान रूप से अपना विकास करने का अधिकार है। मगर मनुष्य मनुष्य में कोई उच्चता नीचता की कल्पना की जा सकती है तो वह सद्गुणों के विकास के आधार पर ही हो सकता है। जन्मजात उच्चता या नीचता की कल्पना करना धोखा है।

जैन-संस्कृति जब मानव-जाति की अखंड एकरूपता स्वीकार करती है तब नारीवर्ग भी उसमें सम्मिलित है। वहाँ नारीवर्ग को भी वह सब अधिकार प्रदान किए गए हैं जो पुरुषवर्ग को प्राप्त हैं। यह बात अलग है कि अधिकार का उपयोग अपनी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार ही किया जा सकता है मगर मार्ग सबके लिए समान रूप से खुला रहना चाहिए।

जैनसंस्कृति के महान् संस्कारक भगवान् महावीर थे। उन्होंने संस्कृति के नाम पर इकट्ठे हुए कूड़े-कचरे को साफ किया और मानवजाति को ऐसी दृष्टि प्रदान की कि वह अपने विवेक से ही सत् असत् का निर्णय कर सके। अपने समय में प्रचलित हानिकर विधि-विधानों को उखाड़ कर उन्होंने जीवन को नया रूप दिया नये मापदण्ड दिए और जीवन-नीति निर्धारित करने की नवीन पद्धति प्रकट की।

जैन-संस्कृति व्यक्ति और समाज के जीवन को पवित्र निर्मल और दिव्य बनाने का राजमार्ग है। उसे भली भाँति समझ कर जो अपनाएंगे वे निश्चय ही श्रेयस् के भागी बनेंगे।

२५) श्रीमती बगसुबाई नथमलजी की धर्म पत्नी	मोकमसर
२५) सहराबाई धर्मपत्नी केसरीमलजी	सिवाणा
२१) श्रीमान मुथा मिश्रीमलजी पारसमलजी बाफणा	मोकमसर
२१) सिरेमलजी जैठमलजी पारमेच्छा	मोकमसर
२१) नेमीचन्दजी जुगराजजी हुंडिया	मोकमसर
२१) मुथा देवीचन्दजी सिरेमलजी बाफणा	मोकमसर
२१) बाबूमलजी सौभाचन्दजी बाफणा	मोकमसर
२१) जेठमलजी नथमलजी बाफणा	मोकमसर
२१) " पुखराजजी हेमराजजी बाफणा	मोकमसर
२१) हीराचन्दजी प्रतापचन्दजी बाफणा	मोकमसर
२१) मि नोलासजी चम्पालालजी बाफणा	मोकमसर
२१) मोहनमलजी कपूरचन्दजी गोलेच्छा	मोकमसर
२१) " भोमराजजी हनुमानचन्दजी पारेच्छा	मोकमसर
२१) मिश्रीलालजी मांगीलालजी बाफणा	मोकमसर
२१) " प्रतापमलजी सिरेमलजी चुन्नीलालजी बाफणा	मोकमसर
२१) मिश्रीलालजी हस्तीजी बाफणा	मोकमसर
२१) गणेशमलजी मिश्रीमलजी पारेच्छा	मोकमसर
२१) श्रीमती हरकुबाई गणेशमलजी बाफणा की धर्म पत्नी	मोकमसर
२) श्रीमान नरसिंगमलजी मेहता	जोधपुर
१५) भमुनमलजी खेमाजी कांकरिया	मोकमसर
१५) रागमलजी नथमलजी कोठारी	मोकमसर
१५) मुलतानमलजी मानाजी	मोकमसर
१५) भानारामजी पूनमचन्दजी पारेच्छा	मोकमसर
११) डूंगरचन्दजी केसाजी	मोकमसर
११) श्रीमती नाथीबाई प्रतापचन्दजी की धर्मपत्नी	मोकमसर
११) श्रीमान अमराजी नवाजी	मोकमसर